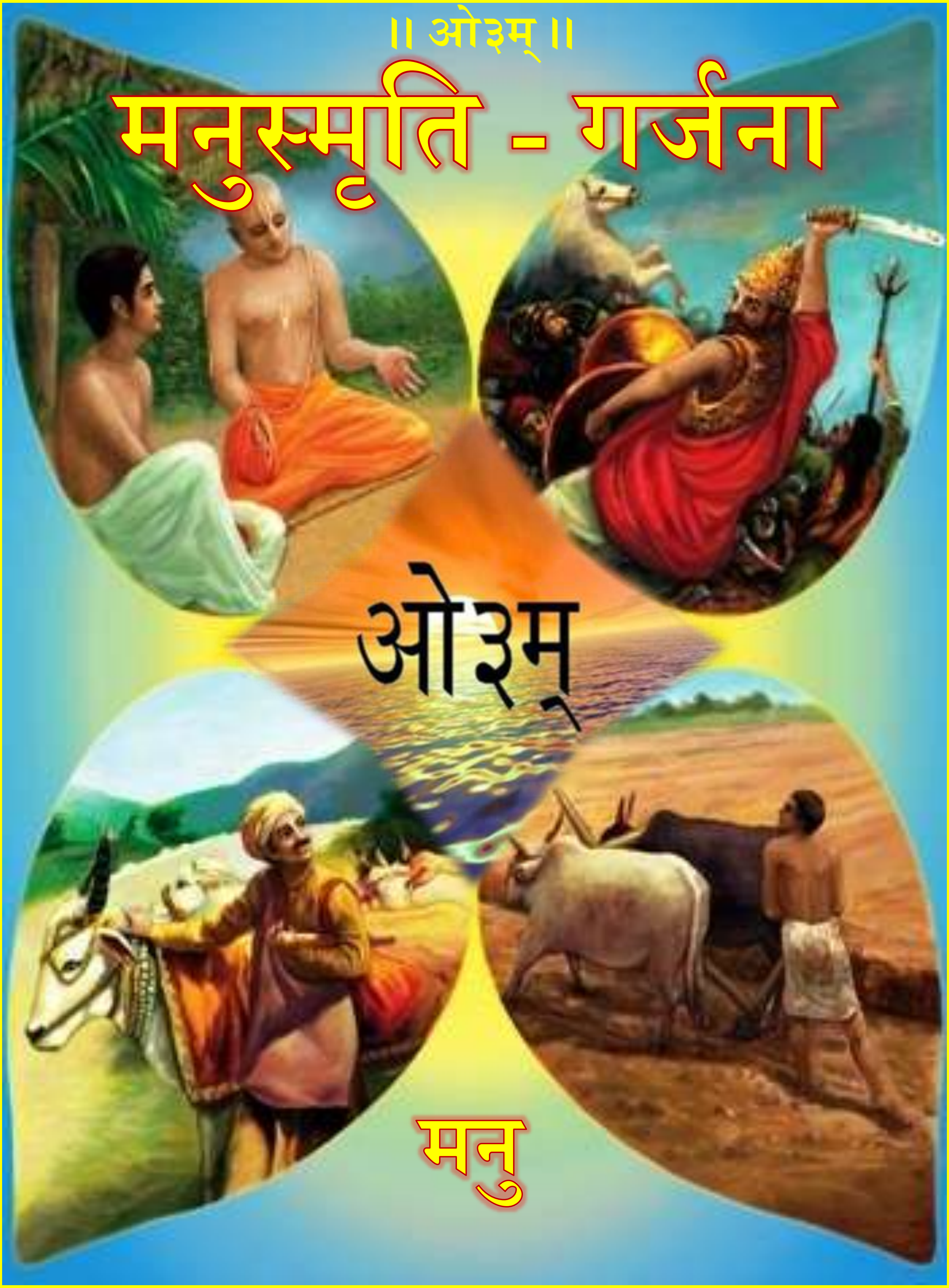
॥ ओ३म् ॥

मनुस्मृति - गर्जना



मनु

॥ ओ३म् ॥

मनुस्मृति - गर्जना

ग्रन्थ-संकलन

(मनुस्मृति विषयक समस्त प्रश्नों एवं आरोपों का अद्वितीय प्रत्याख्यान)

1. मनु का विरोध क्यों ?
2. मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन
   (विशुद्ध मनुस्मृति - भूमिका भाग)

लेखक – श्री सुरेन्द्र कुमार

ओ३म्

मनु का विरोध क्यों ?

लेखक

डॉ० सुरेन्द्र कुमार

'मनुस्मृति-भाष्यकार एवं प्रक्षेपानुसन्धानकर्ता'
आचार्य (संस्कृत, व्याकरण, साहित्य, दर्शन)
एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच.डी.

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

प्रकाशक
आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४५५, खारी बावली, दिल्ली-११०००६

दूरभाष : ३९५३११२, ३९५८३६०

सृष्टि संवत : १,९६,०८,५३,०९९

विक्रम संवत : २०५५

लेखक-
डॉ० सुरेन्द्र कुमार

'मनुस्मृति-भाष्यकार एवं प्रक्षेपानुसन्धानकर्ता'
आचार्य (संस्कृत, व्याकरण, साहित्य, दर्शन)
एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच.डी.

प्रथम संस्करण : १०,०००
द्वितीय संस्करण : १०,०००
कुल योग : २०,०००

मुद्रक : **शेरवानी आर्ट प्रिन्टर्स**
१४८०, गली कासिम जान, लाल कुंआ, दिल्ली-११०००६
दूरभाष : ३९५३११२, ३९५८३६०

लेज़र टाईपसैटिंग : **तिलक प्रिंटिंग प्रेस**
२०४६, बाजार सीताराम, दिल्ली-११०००६
दूरभाष : ३२३१३६९

प्रकाशक की ओर से

दो शब्द

मनु के अवांछित विरोध के फलस्वरूप २८-७-८९ को राजस्थान उच्च न्यायालय के जयपुर परिसर में स्थापित महर्षि मनु की प्रतिमा को हटाने का प्रस्ताव राजस्थान उच्च-न्यायालय की पूर्ण पीठ द्वारा सर्वसम्मति से पारित हो गया। जब यह बात चर्चा में आई तब डा० सुरेन्द्र कुमार जी की प्रेरणा व तैयारी से मैंने एक समादेश याचिका राजस्थान उच्च न्यायालय की जयपुर पीठ के समक्ष प्रस्तुत करके उस आदेश को रद्द करने की प्रार्थना की। उस समादेश याचिका के समर्थन में १४ बातें (तर्क के रूप में) न्यायालय के समक्ष रखी गई थीं। या यूं कहिए कि पूरी समादेश याचिका को १४ बातों पर आधारित करके प्रार्थना की गई थी कि :-

"महर्षि मनु की स्थापित प्रतिमा को निर्धारित स्थान से अन्यत्र न हटाया जाए।"

वे आधारभूत बातें निम्नलिखित हैं :-

(क) सर्वप्रथम और सर्वोपरि धर्मशास्त्र के प्रणेता महर्षि मनु

(ख) धार्मिक गुरु एवं धर्मप्रवक्ता

(ग) आर्यसमाज का विशिष्ट धर्मग्रन्थ मनुस्मृति

(घ) प्रथम विधि-प्रणेता

(ङ) आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में मनु और मनुस्मृति सर्वाधिक प्रामाणिक

(च) सर्वोच्च न्यायालय में मनु की प्रतीक प्रतिमा

(छ) मनु की विदेशों में मान्यता

(ज) मनु मानवसृष्टि के आदि जनक हैं

(झ) मनु की वर्णव्यवस्था का वास्तविक स्वरूप

(ञ) मनु के मत में शूद्र अस्पृश्य नहीं

(ट) मनु की दण्ड व्यवस्था शूद्रविरोधी नहीं

(ठ) वर्ण परिवर्तन के ऐतिहासिक उदाहरण और प्रमाण

(ड) आधुनिक काल में मनु व्यवस्था के अनुसार वर्ण परिवर्तन

(ढ) मनुस्मृति में प्रक्षेप

(ण) मनुस्मृति के प्रक्षेपों पर शोधकार्य

अपनी बात को रखने के लिए न्यायालय के मुझ याचिका कर्त्ता को भी बुलाया। समय कम दिया था अतः मैंने मनु की मूर्ति का प्रतिवाद कर रहे वरिष्ठ अधिवक्ता महोदय से पूछा :-

"मैंने अपनी याचिका में १४ बातों को आधार बनाया है। यदि आप इन १४ बातों में जिन किसी भी तीन बातों को सबसे कमजोर समझते हैं, उन्हें आप बता दें, यही तीन बातें मेरा आधार होंगी। मैं उन्हीं पर बोलूंगा। शेष बातें फिलहाल समयाभाव के कारण छोड़ देते हैं।" बात तो बड़ी अटपटी सी लगी कि कोई व्यक्ति प्रतिपक्षी अधिवक्ता से ही पूछे कि मेरे पक्ष की (चौदह में से) सबसे कमजोर कोई भी तीन बातें बता दें, वही मेरा आधार होंगी। लेकिन प्रतिवादी वरिष्ठ अधिवक्ता न बता सके। उनका उत्तर न आते देखकर मामले की सुनवाई कर रही पूर्णपीठ ने आदेश दिया कि मैं अपने समर्थन में कही गई सभी चौदह आधारभूत बातों का खुलासा करके न्यायालय के समक्ष रखूं। मैंने वही किया। लगभग पूरे ३ दिन का समय लगा। पूर्ण पीठ ने सभी बातें बड़ी ध्यान से सुनीं। उत्तर देने के लिए जब प्रतिवादी वरिष्ठ अधिवक्ता का क्रम आया तो वे अपना पक्ष न रखकर बगलें झांकने लगे। न्यायालय की कार्यवाही का रेकार्ड बताता है :-

"लगभग २० मिनट तक इन्तजार करने के बाद भी मनु का प्रतिवाद कर रहे पक्ष की ओर से जवाब देने का साहस अधिवक्तागण नहीं जुटा पाए।"

अन्त में न्यायालय ने एक अन्तरिम आदेश पारित करके मनु की मूर्ति को न्यायालय परिसर से अन्यत्र स्थानान्तरित करने सम्बन्धित २८-७-८९ के आदेश के क्रियान्वयन पर रोक लगा दी। नतीजतन आज भी महर्षि मनु की प्रतिमा वहीं पर है।

दरअसल जिस प्रकार बिना सोचे समझे एवं अन्य किसी कारण से मनु पर भांति भांति के निराधार आरोप लगाकर उनकी मूर्ति को हटाने का दुष्प्रयास किया गया था वह अत्यन्त निन्दनीय है। महापुरुषों पर किए गए ऐसे राजनीतिक प्रेरित हमलों से सुधी पाठकगण सावधान हो सकें यही इस लघु पुस्तिका का उद्देश्य है। डा० सुरेन्द्र कुमार जी ने पूरे प्रकरण पर अत्यन्त जागरूकता से कार्य किया है, अतः वे निस्सन्देह धन्यवाद के पात्र हैं।

धर्मपाल-आर्य

मंत्री, मनु प्रतिष्ठा संघर्ष समिति
एवं
मंत्री, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट

१०, अगस्त १९९५

आवश्यक निवेदन

आजकल हवा में एक शब्द उछाल दिया गया है-'मनुवाद', किन्तु इसका अर्थ नहीं बताया गया है। इसका प्रयोग भी उतना ही अस्पष्ट और लचीला है, जितना राजनीतिक शब्दों का। मनुस्मृति के निष्कर्ष के अनुसार मनुवाद का सही अर्थ है-'गुण-कर्म-योग्यता के श्रेष्ठ मूल्यों के महत्त्व पर आधारित विचारधारा', और तब, 'अगुण-अकर्म-अयोग्यता के अश्रेष्ठ मूल्यों पर आधारित विचारधारा' को कहा जायेगा-'गैर मनुवाद'।

अंग्रेज-आलोचकों से लेकर आज तक के मनुविरोधी भारतीय लेखकों ने मनु और मनुस्मृति का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह एकांगी, विकृत, भयावह और पूर्वाग्रहयुक्त है। उन्होंने सुन्दर पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करके असुन्दर पक्ष को ही उजागर किया है। इससे न केवल मनु की छवि को आघात पहुंचता है, अपितु भारतीय धर्म, संस्कृति-सभ्यता, साहित्य, इतिहास, विशेषत: धर्मशास्त्रों का विकृत चित्र प्रस्तुत होता है, उससे देश-विदेश में उनके प्रति भ्रान्त धारणाएं बनती हैं। धर्मशास्त्रों का वृथा अपमान होता है। हमारे गौरव का ह्रास होता है।

इस लेख के उद्देश्य हैं-मनु और मनुस्मृति की वास्तविकता का ज्ञान कराना, सही मूल्यांकन करना, इस सम्बन्धी भ्रान्तियों को दूर करना और सत्य को सत्य स्वीकार करने के लिए सहमत करना। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जन्मना जाति-व्यवस्था से हमारे समाज और राष्ट्र का ह्रास एवं पतन हुआ है, और भविष्य के लिए भी यह घातक है। किन्तु, इस एक परवर्ती त्रुटि के कारण समस्त गौरवमय अतीत को कलंकित करना और उसे नष्ट-भ्रष्ट करने का कथन करना भी अज्ञता, अदूरदर्शिता, दुर्भावना और दुर्लक्ष्यपूर्ण है। यह आर्य (हिन्दू) धर्म, संस्कृति-सभ्यता और अस्तित्व की जड़ों में कुठाराघात के समान है।

संसार की सभी व्यवस्थाएं शतप्रतिशत खरी और सर्वमान्य नहीं होती। परवर्ती जातिव्यवस्था की तरह आज की व्यवस्था भी पूर्ण नहीं है। यदि कोई त्रुटि आ जाये तो उसका परिमार्जन किया जा सकता है। हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने इसके लिए एक उदार मूलमन्त्र वहुत पहले से दे रखा है-

"यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि त्वया उपास्यानि, नो इतराणि।"

(तैत्तिरीय उप० १.११.२)

अर्थात्—हमारे जो उत्तम आचरण हैं, उन्हीं का अनुसरण करना, अन्य का नहीं।

इसका पालन करके हम अनुत्तम का परित्याग कर उत्तम को बनाये रख सकते हैं। उत्तम ही सत्य है, शिव है। उसका परित्याग करना मूर्खता है। आशा है, पाठक इसे पढ़कर मनु-सम्बन्धी भ्रान्तियों से बच सकेंगे, और मनुस्मृति के मौलिक मन्तव्यों से अवगत हो सकेंगे तथा उसे ग्रहण करने के लिए उद्यत होंगे।

निवेदक

डॉ. सुरेन्द्रकुमार

मनु का विरोध क्यों ?

अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी-शासन के हितों से जुड़े और ईसाईयत में दीक्षित कुछ पाश्चात्य लेखकों ने पहले-पहल, भारतीयों के मन में प्रत्येक उस वस्तु और व्यक्ति के प्रति योजनाबद्ध रूप से विरोधी संस्कार भरने का और उनकी आस्था भंग करने का षड्यन्त्र किया, जिनका परम्परागत रूप से भारत की अस्मिता, गरिमा और महिमा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। इस प्रकार नींव पड़ी भारतीयता-विरोध परम्परा की। अंग्रेजी शासन के प्रभाव, 'फूट डालो और राज करो' की कूट राजनीति और मैकाले द्वारा प्रवर्तित कूट शिक्षानीति के सहारे वे कुछ भारतीयों को अपने रंग में रंगने में सफल हो गये। उन्होंने इस परम्परा को निभाया और आगे बढ़ाया। इसी परम्परा में उभरे कुछ वे लोग और वर्ग जिन्होंने सर्वप्रथम समाजव्यवस्थापक, आदि विधिनिर्माता महर्षि मनु और उनके आदि विधानशास्त्र मनुस्मृति को अपनी निंदात्मक आलोचनाओं का केन्द्र बनाया। आज स्थिति यह है कि अंग्रेजी परम्परा में लिखी आलोचनाओं और सुनी-सुनायी बातों के आधार पर मनु एवं मनुस्मृति का विरोध करना कुछ सामाजिक वर्गों का एक लक्ष्य बन गया है, तो अंग्रेजीदां लोगों की परिपाटी और कुछ राजनीतिक दलों का चुनाव जीतने का मुद्दा। हमारे राजनीतिक लोगों की बात सबसे निराली है। अभी पिछले वर्षों में कुछ लोग पार्टी विभाजन होते ही एक ही रात में 'मनुपुत्र' से 'गैरमनुपुत्र' बन गये और सार्वजनिक मंचों से लगे मनु, मनुस्मृति और मनुपुत्रों को कोसने ! एक राजनीतिक दल ने सत्ता प्राप्त करने के लिए 'मनुवाद' जैसे नये मुद्दे का आविष्कार कर डाला ! कुछ वर्ष पूर्व जयपुर स्थित उच्च न्यायालय के परिसर में जब आदि विधिप्रणेता होने के कारण मनु की प्रतिमा स्थापित की गयी, तो कुछ लोगों को उस जड़ प्रतिमा से न्याय, न्यायालय और संविधान को एक खतरे का भविष्यदर्शन हुआ और उन्होंने उस प्रतिमा को ही विवाद का विषय बना डाला, जो आज एक प्रकरण के रूप में उसी न्यायालय में विचाराधीन है। जबकि वास्तविकता यह थी कि प्रतिमा-विरोध को कुछ लोग अपनी राजनीतिक पहचान बनाने का सुअवसर समझकर उसका अधिकाधिक लाभ उठाने की ताक में थे।

आश्चर्य तो तब होता है जब हम ऐसे लोगों को मनुस्मृति का विरोध करते हुए पाते हैं, जिन्होंने मनुस्मृति के पढ़ने की बात तो दूर, उसकी आकृति तक देखी नहीं होती। एक दिन मुझे एक उच्चतर डिग्रीधारी ऐसे व्यक्ति मिले जो तुलसीदास की चौपाई **"ढोल, गंवार, शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी"** को मनु का श्लोक कहकर मनु की आलोचना करने लगे। इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि मनु का विरोध करने वालों में मनु और मनुस्मृति के विषय में सामान्य ज्ञान का कितना अभाव है !

सामान्य व्यक्तियों की बात छोड़ दीजिये, डॉ० अम्बेडकर जैसा व्यापक अध्येता भी मनु-विरोध के प्रवाह में इतना बहक गया है कि उन्हें प्रत्येक शूद्र-विरोध मनुविहित नज़र आता है।

शंकराचार्य द्वारा लिखित शूद्रविरोधी वचनों को भी उन्होंने मनुस्मृति-प्रोक्त कहकर मनु के खाते में जोड़ दिया है ! साधारण लेखकों में मनु के नाम पर जो अराजकता पायी जाती है, उसका विवरण लम्बा है । ये सब बातें इंगित करती हैं कि मनुस्मृति को गम्भीरता से पढ़ा नहीं जाता ।

ऐसा देखने में आया है कि मनु एवं मनुस्मृति का विरोध करने वालों में प्रमुखतः तीन प्रकार के व्यक्ति हैं । एक तो वे, जिन्होंने मनु को पूर्वाग्रहग्रस्त अंग्रेजी अलोचनाओं और उस परम्परा के माध्यम से पढ़ा है, और जो प्राचीन भारतीय साहित्य में कालक्रम से हुए परिवर्तनों-प्रक्षेपों से परिचित नहीं हैं । दूसरे वे, जिन्होंने मनुस्मृति के मौलिक और प्रक्षिप्त, दोनों पक्षों को चिन्तन-मनन पूर्वक नहीं पढ़ा है । तीसरे वे, जिन्होंने किन्हीं भ्रान्तियों, पूर्वाग्रहों और निहित स्वार्थों के कारण मनु के विरोध को अपना लक्ष्य बना लिया है । किन्तु वास्तविकता यह है कि महर्षि मनु का व्यक्तित्व और कृतित्व निंदा और विरोध करने का पात्र नहीं है । वे भारत और भारतीयता के लिए गर्व और गौरव के विषय हैं ।

भारत में मनु की प्रतिष्ठा

महर्षि मनु ही पहले वह व्यक्ति हैं, जिन्होंने संसार को एक व्यवस्थित, नियमबद्ध, नैतिक एवं आदर्श मानवीय जीवन जीने की पद्धति सिखायी है । वे मानवों के आदि पुरुष हैं, आदि धर्मशास्त्रकार, आदि विधिप्रणेता, आदि विधिदाता (लॉ गिवर), आदि समाज और राजनीति व्यवस्थापक, आदि राजर्षि हैं । मनु ही वह प्रथम धर्मगुरु हैं, जिन्होंने यज्ञपरम्परा का प्रवर्तन किया । उनके द्वारा रचित धर्मशास्त्र, जिसको कि आज मनुस्मृति के नाम से जाना जाता है, सबसे प्राचीन स्मृतिग्रन्थ है । अपने साहित्य और इतिहास को उठाकर देख लीजिए, वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक एक सुदीर्घ परम्परा उन शास्त्रकारों, साहित्यकारों, लेखकों, कवियों और राजाओं की मिलती है, जिन्होंने मुक्तकण्ठ से मनु की प्रशंसा की है । वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में मनु के वचनों को **"औषध के समान हितकारी और गुणकारी"** कहा है । महर्षि वाल्मीकि रामायण में मनु को एक प्रामाणिक धर्मशास्त्रज्ञ के रूप में उद्धृत करते हैं और हिन्दुओं में भगवान् के रूप में पूज्य राम अपने आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए उसके समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत करते हैं । महाभारत में अनेक स्थलों पर मनु का सर्वोच्च धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्री के रूप में उल्लेख करते हुए उनके धर्मशास्त्र को परीक्षासिद्ध घोषित किया है । अनेक पुराणों में मनु को आदि राजर्षि, शास्त्रकार आदि विशेषणों से विभूषित करके उन्हें लोक हितकारी व्यक्तित्व के रूप में वर्णित किया है । निरुक्त में आचार्य यास्क ने मनु के मत को उद्धृत करके 'पुत्र-पुत्री के समान दायभाग' के विषय में प्रामाणिक माना है । कौटिल्य अर्थशास्त्र में चाणक्य ने मनु के मत को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । स्मृतिकार बृहस्पति मनु की स्मृति को सबसे प्रामाणिक स्मृति मानकर उसके विरुद्ध स्मृतियों को अमान्य घोषित करते हैं । बौद्ध कवि अश्वघोष ने अपनी कृति 'वज्रकोपनिषद्' में मनु के वचनों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है । याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति पर ही आधारित है ।

सभी धर्मसूत्रों और स्मृतियों में मनु के वचनों को समर्थन में प्रस्तुत किया है। वलभी के राजा धारसेन के ५७१ ईस्वी के शिलालेख में मनुधर्म को प्रामाणिक घोषित किया है। बादशाह शाहजहां के लेखक पुत्र दाराशिकोह ने मनु को वह प्रथम मानव कहा है, जिसे यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदम कहकर पुकारते हैं। गुरु गोविन्दसिंह ने 'दशम ग्रन्थ' में मनु का मुक्तकण्ठ से गुणगान किया है।

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने वेदों के बाद मनुस्मृति को ही धर्म में प्रमाण माना है। श्री अरविन्द ने मनु को अर्धदेव के रूप में सम्मान दिया है। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ० राधाकृष्णन्, जवाहरलाल नेहरु आदि राष्ट्रनेताओं ने मनु को आदि 'लॉ गिवर' के रूप में उल्लिखित किया है। अनेक कानूनविदों जस्टिस डी.एन. मुल्ला, एन. राघवाचार्य आदि ने स्वरचित हिन्दू लॉ सम्बन्धी ग्रन्थों में मनु के विधानों को 'अथारिटी' घोषित किया है। मनु की इन्हीं विशेषताओं के आधार पर, लोकसभा में भारत का संविधान प्रस्तुत करते समय जनता और पं० नेहरु ने तथा जयपुर में डॉ० अम्बेडकर की प्रतिभा का अनावरण करते समय तत्कालीन राष्ट्रपति आर. वेंकटरमन ने डॉ. अम्बेडकर को 'आधुनिक मनु' की संज्ञा से गौरवान्वित किया था।

विदेशों में महर्षि मनु की प्रतिष्ठा

मनु की प्रतिष्ठा, गरिमा और महिमा का प्रभाव एवं प्रसार विदेशों में भी भारत से कम नहीं रहा है। ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मन से प्रकाशित 'इन्साइक्लोपीडिया' में मनु को मानवजाति का आदि पुरुष, आदि धर्मशास्त्रकार, आदि विधिप्रणेता, आदि न्यायशास्त्री और आदि समाजव्यवस्थापक वर्णित किया है। मनु के मन्तव्यों का समर्थन करते हुए अपनी पुस्तकों में मैक्समूलर, ए.ए. मैकडानल, ए.बी. कीथ, पी. थामस, लुईसरेनो आदि पाश्चात्य लेखकों ने मनुस्मृति को धर्मशास्त्र के साथ-साथ एक 'लॉ बुक' भी माना है और उसके विधानों को सार्वभौम, सार्वजनीन तथा सबके लिए कल्याणकारी बताया है। भारतीय सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन जज सर विलियम जोन्स ने तो भारतीय विवादों के निर्णय में मनुस्मृति की अपरिहार्यता को देखकर संस्कृत सीखी और मनुस्मृति को पढ़कर उसका सम्पादन भी किया। जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रीडरिच नीत्से ने तो यहां तक कहा कि **"मनुस्मृति बाइबल से उत्तम ग्रन्थ है"** बल्कि **"उससे बाइबल की तुलना करना ही पाप है।"** अमेरिका से प्रकाशित 'इन्साइक्लोपीडिया आफ दि सोशल साइंसिज', 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', कीथरचित 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', भारतरत्न पी.वी. काणे रचित 'धर्मशास्त्र का इतिहास' डॉ० सत्यकेतु रचित 'दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति' आदि पुस्तकों में विदेशों में मनुस्मृति के प्रभाव और प्रसार का जो विवरण दिया गया है, उसे पढ़कर प्रत्येक भारतीय अपने अतीत पर गर्व कर सकता है।

बालि द्वीप, बर्मा, फिलीपीन, थाइलैंड, चम्पा (दक्षिणी वियतनाम) कम्बोडिया, इन्डोनेशिया, मलेशिया, श्रीलंका, नेपाल आदि देशों से प्राप्त शिलालेखों और उनके प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता

है कि वहां प्रमुखतः मनु के धर्मशास्त्र पर आधारित-कर्मानुसारी वर्णव्यवस्था रही है। मनु के विधानों को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाता था और उन्हीं के अनुसार न्याय होता था। शिलालेखों में मनुस्मृति के अनेक श्लोक उत्कीर्ण पाये गये हैं। राजा लोग स्वयं को मनु का अनुयायी अथवा मनुमार्गगामी कहने में गर्व अनुभव करते थे और मनु की उपाधि धारण करके स्वयं को गौरवान्वित मानते थे। चम्पा (दक्षिणी वियतनाम) में प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार राजा जयइन्द्रवर्मदेव मनुमार्ग का अनुसरण करने वाला था। कम्बोडिया के राजा उदयवीर वर्मा के 'सदोक काकथोम' से प्राप्त अभिलेख में 'मानवनीतिसार' ग्रन्थ का उल्लेख है, जो मनुस्मृति पर आधारित था। 'प्रसत कोमपन' से प्राप्त राजा यशोवर्मा के अभिलेख में मनुस्मृति का २.१३६ श्लोक उद्धृत मिलता है। राजा जयवर्मा के अभिलेख में मनुसंहिता के विशेषज्ञ एक मन्त्री का उल्लेख है। बालिद्वीप में आज भी मनु-व्यवस्था है। उक्त देशों की आचारसंहिताएं/संविधान मनुस्मृति पर ही आधारित थे और बहुत कुछ अब भी हैं। फिलीपीन के निवासी मानते हैं कि उनकी आचार संहिता के निर्माण में मनु और लाओत्से की स्मृति का प्रमुख योगदान है, इस कारण वहां की विधानसभा के द्वार पर इन दोनों की मूर्तियां स्थापित की गयीं।

हम मनु का कितना ही विरोध कर लें और चाहे कितनी ही निन्दा कर लें, मनु का हम से जो सम्बन्ध बन चुका है, वह जब तक इतिहास और यह समाज रहेगा, तब तक मिट नहीं सकता। आदिवंश प्रवर्तक होने के कारण मनु को न कभी त्यागा जा सकता है, न भुलाया जा सकता है।

भारतीय साहित्य और समाज मनु को अपना आदि-पुरुष मानता है। सभी मनुष्य मनु की सन्तान हैं। इसी कारण आदमी के वाचक जितने भी नाम हैं, वे 'मनु' शब्द से बने हैं, जैसे-मनुष्य, मनुज, मानव, मानुष आदि। इसीलिए निरुक्तकार ने इनकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है-

"मनोः अपत्यम् मनुष्यः" (३.४)

अर्थात्—'मनु की सन्तान होने से हमें मनुष्य कहा जाता है।' ब्राह्मणग्रन्थों में भी **"मानव्यः प्रजाः"** कहकर इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है। यूरोपीय विद्वानों ने भाषा विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि कभी यूरोप, ईरान और भारतीय उपमहाद्वीप निवासी एक ही परिवार के सदस्य थे। इन सबकी भाषाओं में मनुष्यवाचक जो शब्द प्रचलित हैं, वे मनुमूलक शब्दों के अपभ्रंश हैं। जैसे, ग्रीक और लैटिन में माइनोस, जर्मनी में मन्न, स्पेनिश में मन्ना; अंग्रेजी तथा उसकी बोलियों में मैन, मेनिस, मनुस्, मनेस, मनीस आदि; ईरानी-फारसी में नूह (मनुस् के स् को ह होकर और म का लोप होकर) कहा जाता है। इन देशों के ऐतिहासिक उल्लेखों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। ईरानवासी आज भी स्वयं को आर्यवंशी मानते हैं और अपना मूल उद्गम आर्यों के 'सप्तसिन्धु' देश से मानते हैं। कम्बोडिया के निवासी स्वयं को मनु की सन्तान कहते हैं। थाईलैंड के निवासी स्वयं को सूर्यवंशी राम के वंशज मानते हैं। राम और कृष्ण दोनों ही मनु की वंशपरम्परा में आते हैं। इस

विवरण को पढ़कर हम कह सकते हैं कि अतीत में एक धर्मशास्त्रकार और विधिदाता (लॉ गिवर) के रूप में महर्षि मनु को जो प्रतिष्ठा और महत्त्व मिला है, वह किसी अन्य को नहीं मिला।

मनु और मनुस्मृति पर आक्षेप

आइये, अब मनु और मनुस्मृति पर लगाये जाने वाले आक्षेपों पर विचार करें। मुख्यरूप से उन्हें तीन वर्गों में बांटा जा सकता है-

(क) मनु ने जन्म पर आधारित जाति-पांति व्यवस्था का निर्माण किया।

(ख) उस व्यवस्था में मनु ने शूद्रों अर्थात् दलितों के लिए पक्षपातपूर्ण एवं अमानवीय विधान किये हैं, जबकि सवर्णों, विशेषतः ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्रदान किये हैं। इस प्रकार मनु शूद्रविरोधी थे।

(ग) मनु स्त्रीविरोधी थे। उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं दिये। मनु ने स्त्रियों की निन्दा की है।

इन तीनों आक्षेपों के समाधान के लिए बाह्य प्रमाणों और मतों की अपेक्षा अन्तःसाक्ष्य अधिक प्रामाणिक रहेंगे, अतः यहां मनुस्मृति के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं-

(क) मनु की वर्णव्यवस्था का वास्तविक स्वरूप

१. **मनु की वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित और वेदमूलक**—मनुस्मृति में वर्णित गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित वर्णव्यवस्था वेदमूलक है। यह मूलतः तीन वेदों (ऋग् १०.९०.११-१२; यजु० ३१.१०-११; अथर्व० १९.६.५-६) में पायी जाती है। मनु वेदों को धर्म में परम प्रमाण मानते हैं, अतः उन्होंने वर्णव्यवस्था को धर्ममूलक व्यवस्था मानकर उसे वेदों से ग्रहण करके अपने शासन में क्रियान्वित किया तथा धर्मशास्त्र के द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित किया।

२. **वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था में अन्तर और परस्परविरोध**—मनु की वैदिक वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित है, जन्म पर आधारित नहीं। यह समझ लेना आवश्यक है कि वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था परस्पर विरोधी व्यवस्थाएं हैं। एक की उपस्थिति में दूसरी नहीं टिक सकती। इनके अन्तर्निहित अर्थभेद को समझकर इनके मौलिक अन्तर को आसानी से समझा जा सकता है। वर्णव्यवस्था में वर्ण प्रमुख है और जातिव्यवस्था में जाति अर्थात् 'जन्म' प्रमुख है। जिन्होंने इनका समानार्थ में प्रयोग किया है उन्होंने स्वयं को और पाठकों को भ्रान्त कर दिया। 'वर्ण' शब्द 'वृञ्-वरणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-'जिसको वरण किया जाये' वह समुदाय। निरुक्त में आचार्य यास्क ने इसके अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

"वर्णः वृणोतेः" (२.१४) = वरण करने से 'वर्ण' कहलाता है।

जबकि जाति का अर्थ है-'जन्म'। इस अर्थ में जाति शब्द का प्रयोग मनुस्मृति में हुआ है-

"जाति-अन्धबधिरौ" (१.२०१) = जन्म से अन्धे-बहरे।
"जातिं स्मरति पौर्विकीम्" (४.१४८) = पूर्वजन्म को स्मरण करता है।
"द्विजातिः" (१०.४) = द्विज, क्योंकि उसके दो जन्म होते हैं।
"एकजातिः" (१०.४) = शूद्र, क्योंकि उसका विद्याजन्म नहीं होता। एक जन्म ही होता है।

वैदिक वर्णव्यवस्था में समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार समुदायों में व्यवस्थित किया गया है। जब तक गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर व्यक्ति इन समुदायों का वरण करते रहे, तब तक वह वर्णव्यवस्था कहलायी। जब जन्म से ब्राह्मण, शूद्र आदि माने जान लगे तो वह जातिव्यवस्था बन गयी। वर्ण शब्द का धातु-प्रत्ययमूलक अर्थ ही यह संकेत देता है कि जब यह व्यवस्था बनी तब यह गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार वरण की जाती थी, जन्म से नहीं थी।

३. **वर्णों में जातियों का उल्लेख नहीं**-मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था का साधक एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि मनु ने केवल चार वर्णों का उल्लेख किया है, किन्हीं जातियों अथवा गोत्रों का परिगणन नहीं किया है। इससे दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। एक-मनु के समय जन्मना कोई जाति नहीं थी। दो-जन्म अथवा गोत्र का वर्णव्यवस्था में कोई महत्त्व नहीं था और न उसके आधार पर वर्ण की प्राप्ति होती थी। यदि मनु के समय जातियां होतीं और जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होता तो वे उन जातियों का परिगणन अवश्य करते और बतलाते कि अमुक जातियां या गोत्र ब्राह्मण हैं और अमुक शूद्र। मनु, जन्माधारित महत्ताभाव को कितना उपेक्षणीय समझते हैं, इसका ज्ञान उस श्लोक से होता है जहां भोजनार्थ कुल-गोत्र का कथन करने वाले को उन्होंने 'वान्ताशी = वमन करके खाने वाला' जैसे निन्दित विशेषण से अभिहित किया है (३.१०९)। और आदर-बड़प्पन के मानदण्डों में कुल-गोत्र-जाति का उल्लेख ही नहीं है, केवल गुण-कर्मों का है।

४. **मनु को जातिव्यवस्थापक मानने से मनुस्मृति-रचना व्यर्थ**-यदि हम मनु को जन्मना वर्णव्यवस्था का प्रतिपादक मान लेते हैं तो इससे मनुस्मृतिरचना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि मनुस्मृति में पृथक्-पृथक् वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् कर्मों का विधान किया गया है। यदि कोई व्यक्ति जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहलाने लगता है, तो वह विहित कर्म करे या न करे, वह उसी वर्ण में रहेगा। उसके लिए कर्मों का विधान निरर्थक है। मनु ने जो पृथक् कर्मों का निर्धारण किया है, वही यह सिद्ध करता है कि वे कर्म के अनुसार वर्णव्यवस्था को मानते हैं, जन्म से नहीं।

५. **वर्णव्यवस्था में वर्णपरिवर्तन का विधान**-वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि वर्णव्यवस्था में वर्णपरिवर्तन हो सकता है और व्यक्ति को वर्णपरिवर्तन की स्वतन्त्रता होती है, जबकि जातिव्यवस्था में जहां जन्म हो गया, जीवनपर्यन्त वही जाति रहती है। मनु की व्यवस्था वर्णव्यवस्था थी, जिसमें व्यक्ति को वर्ण परिवर्तन की स्वतन्त्रता थी। इस विषय में मनुस्मृति का एक महत्त्वपूर्ण श्लोक प्रमाणरूप में उद्धृत किया जाता है जो सभी सन्देहों को दूर कर देता है-

शूद्रो ब्राह्मणताम् एति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियात् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥

(अ० १०, श्लोक ६५)

अर्थात्—'गुण, कर्म, योग्यता के आधार पर ब्राह्मण, शूद्र बन जाता है और शूद्र ब्राह्मण। इसी प्रकार क्षत्रियों और वैश्यों में भी वर्णपरिवर्तन हो जाता है।'

६. **निर्धारित कर्मों के त्याग से वर्णपरिवर्तन**-मनुस्मृति में दर्जनों ऐसे श्लोक हैं, जिनमें निर्धारित कर्मों के त्याग से और निकृष्ट कर्मों के कारण द्विजों को शूद्र कोटि में परिगणित करने का विधान किया है [द्रष्टव्य २ । ३७,४०,१०३,१६८; ४ । २४५ आदि श्लोक]। और शूद्रों को श्रेष्ठ कर्मों से उच्चवर्ण की प्राप्ति का विधान है (९.३३५)।

७. **महाभारत काल तक वर्णव्यवस्था का प्रचलन**-उक्त प्रमाणों और युक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनु द्वारा विहित वर्णव्यवस्था में सभी व्यक्तियों को गुण-कर्मानुसार वर्ण में दीक्षित होने के समान अवसर प्राप्त थे। ऋग्वेद से लेकर महाभारत (गीता) पर्यन्त यह कर्माधारित वर्णव्यवस्था चलती रही है। गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है-

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः" [४ । १३]

अर्थात्-गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का निर्माण किया गया है। जन्म के अनुसार नहीं।

८. **वर्ण परिवर्तन के ऐतिहासिक उदाहरण**-भारतीय इतिहास में, सैकड़ों ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जो कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था की पुष्टि करते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि किसी भी वर्ण को जन्म के आग्रह से नहीं जोड़ा गया। जैसे-(१) दासी का पुत्र 'कवष ऐलूष' और शूद्रापुत्र 'वत्स' मन्त्रद्रष्टा होने के कारण दोनों ऋग्वेद के ऋषि कहलाये। (२) क्षत्रिय कुल में उत्पन्न राजा विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बने। (३) अज्ञात कुल के सत्यकाम जाबाल ब्रह्मवादी ऋषि बने। (४) चंडाल के घर में उत्पन्न 'मातंग' एक ऋषि कहलाये। (५) [कुछ कथाओं के अनुसार] निम्न कुल में उत्पन्न वाल्मीकि, महर्षि वाल्मीकि की पदवी को प्राप्त कर गये। (६) दासीपुत्र विदुर राजा धृतराष्ट्र के महामन्त्री बने और

महात्मा कहलाये। (७) दशरथ पुत्र श्री राम और यदु कुल में उत्पन्न श्रीकृष्ण 'भगवान्' माने गये। वे ब्राह्मणों के भी पूज्य बने, जबकि उनका कुल क्षत्रिय था। इसके विपरीत कर्मों के ही कारण,(८) पुलस्त्य ऋषि का वंशज लंकाधिपति रावण 'राक्षस' कहलाया। (९) राम के पूर्वज रघु का 'प्रवृद्ध' नामक पुत्र नीच कर्मों के कारण क्षत्रियों से बहिष्कृत होकर 'राक्षस' बना। (१०) राजा त्रिशंकु चंडालभाव को प्राप्त हुआ। (११) विश्वामित्र के कई पुत्र शूद्र कहलाये।

९ **जातियों के वर्णपरिवर्तन**-व्यक्तिगत उदाहरणों के अतिरिक्त, इतिहास में पूरी जातियों का अथवा जाति के पर्याप्त भाग का वर्णपरिवर्तन भी मिलता है। महाभारत और मनुस्मृति में कुछ पाठभेद के साथ पाये जाने वाले श्लोकों से ज्ञात होता है कि निम्न जातियां पहले क्षत्रिय थीं किन्तु अपने क्षत्रिय कर्तव्यों के त्याग के कारण और ब्राह्मणों द्वारा बताये प्रायश्चित्त न करने के कारण वे शूद्रकोटि में परिगणित हो गयीं-

शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥ (१०.४३-४४)

अर्थात्- अपने निर्धारित कर्तव्यों का त्याग कर देने के कारण और फिर ब्राह्मणों द्वारा बताये प्रायश्चित्तों को न करने के कारण धीरे-धीरे ये क्षत्रिय जातियां शूद्र कहलायीं-पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश ॥ महाभारत अनु० ३५.१७-१८ में इनके अतिरिक्त मेकल, लाट, कान्वशिरा, शौण्डिक, दार्व, चौर, शबर, बर्बर जातियों का भी उल्लेख है।

बाद तक भी वर्णपरिवर्तन के उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। जे. विलसन और एच.एल. रोज के अनुसार राजपूताना, सिन्ध और गुजरात के पोखरना या पुष्करण ब्राह्मण, और उत्तर प्रदेश में उन्नाव जिला के आमताड़ा के पाठक और महावर राजपूत वर्णपरिवर्तन से निम्न जाति से ऊंची जाति के बने (देखिए हिन्दी विश्वकोश भाग ४)।

१०. **चारों वर्णों में पाये जाने वाले समान गोत्रों का रहस्य**-ब्राह्मणों, क्षत्रिय जातियों, वैश्य और दलित जातियों में समान रूप से पाये जाने वाले गोत्र, ऐतिहासिक वंश परम्परा के पुष्ट प्रमाण हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि वे सभी एक ही मूल परिवारों के वंशज हैं। पहले वर्णव्यवस्था में जिसने गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर जिस वर्ण का चयन किया, वे उस वर्ण के कहलाने लगे। बाद में विभिन्न कारणों के आधार पर उनका ऊंचा-नीचा वर्णपरिवर्तन होता रहा। किसी क्षेत्र में वही ब्राह्मण वर्ण में रह गया तो कहीं क्षत्रिय, तो कहीं शूद्र कहलाया। कालक्रमानुसार जन्म के आधार पर उनकी जाति रूढ़ हो गयी।

११. **वर्णव्यवस्था के आधारभूत तत्त्व**-मनुस्मृति में वर्णित वर्णव्यवस्था के आधारभूत तत्त्व हैं-गुण, कर्म, योग्यता। मनु व्यक्ति अथवा वर्ण को महत्त्व और आदर-सम्मान नहीं देते अपितु उक्त

गुणों को देते हैं । जहां इनका आधिक्य है,उस व्यक्ति और वर्ण का महत्त्व, आदर-सम्मान अधिक है,न्यून होने पर न्यून है । आज तक संसार की कोई भी सभ्य व्यवस्था इन तत्त्वों को न नकार पायी है और न नकारेगी । इनको नकारने का अर्थ है-अन्याय, असन्तोष, आक्रोश, अव्यवस्था और अराजकता । मुहावरों की भाषा में इसी स्थिति को कहते हैं 'घोड़े-गधे को एक समझना' या 'सभी को एक लाठी से हांकना ।' इसका परिणाम होता है,कोई भी समाज या राष्ट्र न विकास कर सकता है,न उन्नति; न समृद्ध हो सकता है,न सम्पन्न; न सुखी हो सकता है,न संतुष्ट; न शान्त रह सकता है, न अनुशासित; न व्यवस्थित रह सकता है,न अखण्डित । ऐसी व्यवस्था अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती । वर्तमान मे निश्चित सर्वसमानता का दावा करने वाली साम्यवादी व्यवस्था भी इन तत्त्वों से स्वयं को पृथक् नहीं रख सकी । उसमें भी गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार पद और सामाजिक स्तर हैं । उन्हीं के अनुरूप वेतन,सुविधा और सम्मान में अन्तर हैं ।

हमारी आजकल की प्रशासनिक और व्यावसायिक व्यवस्था की तुलना करके देखिए, मनु की बात आसानी से समझ आ जायेगी और ज्ञात होगा कि मनु की और आज की इन व्यवस्थाओं में मूलभूत समानता है । सरकार की प्रशासन व्यवस्था में चार वर्ग हैं- १. प्रथम श्रेणी राजपत्रित अधिकारी,२.द्वितीय श्रेणी राजपत्रित अधिकारी,३-४ तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी । इनमें प्रथम दो वर्ग अधिकारी हैं,दूसरे कर्मचारी । यह विभाजन गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर है और इसी आधार पर इनका महत्त्व,सम्मान एवं अधिकार हैं । इन पदों के लिए योग्यताओं का प्रमाणीकरण पहले भी शिक्षासंस्थान (गुरुकुल,आश्रम,आचार्य) करते थे और आज भी शिक्षासंस्थान (विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि) ही करते हैं । शिक्षा का कोई प्रमाणपत्र नहीं होने से,अल्पशिक्षित या अशिक्षित व्यक्ति सेवा और शारीरिक श्रम के कार्य ही करता है और वह अन्तिम कर्मचारी श्रेणी में आता है । पहले भी जो गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त नहीं करता था,वह इसी स्तर के कार्य करता था और उसकी संज्ञा 'शूद्र' थी । शूद्र के अर्थ हैं-'निम्न स्थिति वाला' 'आदेशवाहक' आदि । नौकर,चाकर, सेवक,प्रेष्य,सर्वेंट,अर्दली,निम्न श्रेणी कर्मचारी,आदि संज्ञाओं में कितनी अर्थसमानता है आप स्वयं देख लीजिये । व्यवसायों के निर्धारण में भी बहुत अन्तर नहीं है । शिक्षासंस्थानों से डाक्टर,वकील, अध्यापक, आदि की डिग्री प्राप्त करके ही व्यवसाय की अनुमति है,उसके बिना नहीं । सबके नियम-कर्तव्य निर्धारित हैं । उनकी पालना न करने वाले को व्यवसाय और पद से हटा दिया जाता है ।

१२. **शूद्रों को वर्ण परिवर्तन के व्यावहारिक अवसर**-जो लोग अपने आपको 'शूद्र' समझते हैं और अभी तक किसी कारण से स्वयं को 'शूद्रकोटि' में मानकर मानवीय अधिकारों से वंचित रखा हुआ है,मनु को धर्मगुरु मानने वाला और मनु के सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं पर चलने वाला 'आर्यसमाज' योग्यतानुसार किसी भी वर्ण में दीक्षित होने का उनका आह्वान करता है और उन्हें व्यावहारिक अवसर देता है । जब आज का संविधान नहीं बना था,उससे बहुत पहले महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति के आदेशों के परिप्रेक्ष्य में छूत-अछूत,ऊंच-नीच,जाति-पांति,नारी-शूद्रों को न पढ़ाना,

बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा, शोषण आदि को सामाजिक बुराइयां घोषित करके उनके विरुद्ध संघर्ष किया था। नारियों के लिए गुरुकुल और विद्यालय खोले। अपनी शिक्षा संस्थाओं में शूद्रों को प्रवेश दिया, परिणामस्वरूप वहां शिक्षित सैंकड़ों दलित संस्कृत एवं वेद-शास्त्रों के विद्वान् स्नातक बन चुके हैं। दलित जाति के लोग क्यों भूलते हैं कि उनकी अस्पृश्यता को मिटाने के लिए, मनु के अनुगामी और ऋषि दयानन्द के शिष्य कितने ही आर्यसमाजी स्वयं 'अस्पृश्य' बन गये थे, किन्तु उन्होंने संघर्ष को नहीं छोड़ा। इन घटनाओं से अनभिज्ञ दलित-लेखक आर्यसमाज को भी रंगीन चश्मे से देखते हैं। क्या उनकी यह अकृतज्ञता नहीं है?

१३. **व्यवस्था का सही मूल्यांकन**-मनुका समय अति प्राचीन है। यद्यपि उन्होंने मनुस्मृति में जो आदर्श जीवनमूल्य, मर्यादाएं और धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह सार्वभौम एवं सार्वकालिक है, किन्तु जो देश-काल-परिस्थितियों पर आधारित व्यवस्थाएं हैं, वे तदनुसार परिवर्तनीय हैं। मनु ने अपने समय जिस सामाजिक व्यवस्था को ग्रहण किया वह उस समय की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था थी। यही कारण है वह व्यवस्था अत्यन्त व्यापक प्रभाव वाली रही और हजारों वर्षों तक वह प्रचलित होती आयी है। इस कालचक्र में कुछ व्यवस्थाएं अपने मूल स्वरूप को खोकर विकृत हो गयीं। आज राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियां बदलीं, हम राजतन्त्र से प्रजातन्त्र में आ गये। समयानुसार अनेक सामाजिक व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन हुआ। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्राचीनता हमारे लिए पूर्णतः अग्राह्य और अपमान की वस्तु बन गयी। यदि हमारी यही सोच उभरती है तो प्राचीन गौरव से जुड़ी प्रत्येक वस्तु जैसे-महापुरुष, वीर पुरुष, कवि, लेखक, नगर, तीर्थ, भवन, साहित्य, इतिहास सभी कुछ निन्दा की चपेट में आ जायेगा। किसी भी व्यवस्था, वस्तु, व्यक्ति का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जाना चाहिए, वही सही मूल्यांकन माना जा सकता है।

महर्षि मनु और डॉ० अम्बेडकर

१४. भारतीय लेखकों में मनु के विरोध की परम्परा के प्रमुख संवाहक और प्रेरणास्रोत डॉ० भीमराव अम्बेडकर थे। यद्यपि जन्मना जाति-पांति, ऊंच-नीच, छूत-अछूत जैसी कुप्रथाओं के कारण अपने जीवन में उन्होंने जिन उपेक्षाओं, असमानताओं, यातनाओं और अन्यायों को भोगा था, उस स्थिति में कोई भी स्वाभिमानी शिक्षित वही करता, जो उन्होंने किया; किन्तु मनु और मनुस्मृति को गम्भीरता एवं पूर्णता से समझे बिना, पूर्वाग्रहों के कारण, उन्होंने मनु के विषय में जो व्यवहार किया, वह भी सर्वथा अनुचित एवं अन्यायपूर्ण था। एक कानूनविद् होने के नाते उन पर इस अनौचित्य की जिम्मेदारी अधिक आती है। उन्होंने संविधान में प्रावधान किया है कि 'अनुचित निर्णय से निरपराध को दण्ड नहीं मिलना चाहिए, चाहे अपराधी मुक्त हो जाये।' किन्तु उन्होंने अपने जीवन में इसका पालन नहीं किया। परवर्ती समाज द्वारा बनायी गयी जन्माधारित सामाजिक व्यवस्थाओं को मनु पर थोपकर अनावश्यक रूप से उन्हें दोषी घोषित करते रहे और उनके विरुद्ध निंदा अभियान

चलाते रहे, आर्य (हिन्दू) समाज में प्रतिष्ठित एक महर्षि के लिए बेहद कटु वचनों का प्रयोग करते रहे। हालांकि तत्कालीन बहुत से व्यक्ति उनका ध्यान बार-बार इस तथ्य की ओर आकर्षित करते रहे कि मनु के विषय में अभी उनकी कुछ भ्रान्तियां और पूर्वाग्रह हैं, वे उन्हें दूर कर लें, किन्तु वे पूर्वाग्रहों पर अड़े रहे। उसके कई कारण थे। जो कुछ तब वे मनु के विषय में लिख चुके थे, शायद उसको छोड़ना नहीं चाहते थे, और उन्हीं के शब्दों में "**उन पर मनु का भूत सवार था और उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे उसे उतार सकें।**" सत्य है, उस भूत को वे जीवन-पर्यन्त नहीं उतार सके और जीवन के उपरान्त उसे अपने अनुगामियों पर छोड़ गये। लेकिन क्या 'भूत सवार होना' सामान्य स्थिति, संतुलित विचार, विवेकपूर्ण सही समीक्षा का परिचायक माना जा सकता है?

यह भी उनके जीवन की वास्तविकता है कि डॉ. अम्बेडकर संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे। जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, उन्होंने मनुसम्बन्धी समस्त अध्ययन-विश्लेषण अंग्रेजी भाषा में लिखी आलोचनाओं के माध्यम से ग्रहण किया है, अतः वे मौलिक-प्रक्षिप्त आदि पहलुओं, श्लोकों के प्रसंगों आदि पर विचार नहीं कर सके। जो अंग्रेजी समालोचनाओं में पढ़ा, वही धारणाएं बन गयीं। डॉ. अम्बेडकर के समय तक मनुस्मृति के प्रक्षेपों पर कोई शोधकार्य भी नहीं हुआ था, अतः उन्हें मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों में भेद करने का कोई स्रोत नहीं मिला। यदि उक्त कारण न होते तो शायद वे मनु और मनुस्मृति का इतना अविचारित विरोध नहीं करते।

१५. डॉ. अम्बेडकर के, मनु की वैदिक वर्णव्यवस्था विषयक, आधारभूत मन्तव्यों को यहां प्रस्तुत करके उन पर चर्चा करना इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि उससे उनकी समीक्षा के साथ-साथ इस लेख को एक नया प्रमाण मिलेगा। वे लिखते हैं-

- "एक बात मैं आप लोगों को बताना चाहता हूं कि मनु ने जाति के विधान का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था। जातिप्रथा मनु से पूर्व विद्यमान थी।" (भारत में जातिप्रथा पृ० २९)
- "यह निर्विवाद है कि वेदों में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त की रचना की है, जिसे पुरुषसूक्त के नाम से जाना जाता है।" (हिन्दुत्व का दर्शन पृ० १२२)
- "कदाचित् मनु जाति के निर्माण के लिए जिम्मेदार न हो परन्तु मनु ने वर्ण की पवित्रता का उपदेश किया है। _वर्ण जाति की जननी है और इस अर्थ में, मनु जाति व्यवस्था का लेखक न भी हो, परन्तु उसका पूर्वज होने का उस पर निश्चित ही आरोप लगाया जा सकता है।" (हिन्दुत्व का दर्शन पृ० ४२)
- "मैं मानता हूं कि स्वामी दयानन्द व कुछ अन्य लोगों ने वर्ण के वैदिक सिद्धान्त की जो व्याख्या की है, वह बुद्धिमत्तापूर्ण है और घृणास्पद नहीं है। मैं यह व्याख्या नहीं मानता कि जन्म किसी व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित करने का निर्धारक तत्व हो। वह केवल योग्यता को मान्यता देती है।" (जातिप्रथा उन्मूलन, पृ० ११९)

- "वेद में वर्ण की धारणा का सारांश यह है कि व्यक्ति वह पेशा अपनाए,जो उसकी स्वाभाविक योग्यता के लिए उपयुक्त हो।" (वही पृ० ११९)
- "जाति का आधारभूत सिद्धान्त वर्ण के आधारभूत सिद्धान्त से मूल रूप से भिन्न है,न केवल मूलरूप से भिन्न है, बल्कि मूल रूप से परस्पर विरोधी है। पहला सिद्धान्त (वर्ण) गुण पर आधारित है।" (वही पृ० ८१)

१६. प्रस्तुत उद्धरणों में डॉ.अम्बेडकर ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि वर्णव्यवस्था की रचना वेदों से हुई। मनु इसके निर्माता नहीं,केवल पोषक हैं। वेदों की वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित है,जो बुद्धिमत्तापूर्ण है और घृणास्पद नहीं है। वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था परस्पर विरोधी हैं। मनु जाति व्यवस्था के निर्माता भी नहीं हैं। इस प्रकार मनु वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था के निर्माता के आरोप से मुक्त हो जाते हैं। वर्णव्यवस्था के पोषक होने के कारण उन पर यह भी आरोप नहीं बनता कि उन्होंने जन्मना जातिवाद का पोषण किया। यदि वर्णव्यवस्था बुद्धिमत्तापूर्ण है और घृणास्पद नहीं है,तो व्यवस्था का पोषण करके उन्होंने उत्तम कार्य ही किया है, अपराध नहीं किया। मनु वैदिक धर्मावलम्बी होने से वेदों को परम प्रमाण मानते हैं। अपने धर्मग्रन्थों के आदेशों का पालन करते हुए उन्होंने उसकी अच्छी व्यवस्थाओं का प्रचार-प्रसार किया तो यह कोई दोष नहीं। सभी धर्मावलम्बी ऐसा करते हैं। बौद्ध बनने के बाद डॉ. अम्बेडकर ने भी बौद्ध विचारों का प्रचार-प्रसार किया है। यदि उनका यह कार्य उचित है,तो मनु का भी उचित है। इतनी स्वीकारोक्तियां होने के उपरान्त भी,आश्चर्य है कि डॉ.अम्बेडकर मनु को स्थान-स्थान पर जातिवाद का जिम्मेदार ठहरा कर उनकी निन्दा करते हैं। परवर्ती सामाजिक व्यवस्थाओं को मनु पर थोंपकर उन्हें कटु वचन कहना कहां का न्याय है ?

संविधान में चवालीस वर्षों में अस्सी के लगभग संशोधन किये जा चुके हैं,जिनमें कुछ संविधान की मूल भावना के प्रतिकूल हैं,जैसे-अंग्रेजी की अवधि बढ़ाना,मुसलमानों में गुजाराभत्ता की शर्त हटाना आदि, क्या इन परवर्ती संशोधनों का, और भावी संशोधनों का जिम्मेदार डॉ. अम्बेडकर को ठहराया जा सकता है ? यदि नहीं,तो हजारों वर्ष परवर्ती विकृत व्यवस्थाओं के लिए मनु को जिम्मेदार कैसे ठहराया जा सकता है ?

१७. डॉ. अम्बेडकर का मानना है कि वर्णव्यवस्था जातिव्यवस्था की जननी है, क्योंकि वर्णव्यवस्था का मनु ने पोषण किया था,इसलिए मनु दोष के पात्र हैं। कितना अटपटा और लचीला तर्क है यह ! ठीक जातिवाद जैसा। जैसे-किसी ने श्राद्ध नहीं किया तो वह पिछली छह पीढ़ियों के पूर्वजों सहित नरक में जायेगा, क्योंकि वे उसके जनक और पोषक हैं। किसी ने श्राद्ध किया तो उसकी पिछली छह-पीढ़ियां तर जायेंगी,क्योंकि वे उसकी जनक हैं। ऐसे ही,जातिव्यवस्था दोषपूर्ण है, अतः उसकी पूर्वव्यवस्था और उनके पोषक मनु भी दोषी हैं। आश्चर्य तो यह है कि कानूनवेत्ता एक कानूनदाता के लिए ऐसे आरोपों का प्रयोग कर रहा है ! संविधान में तो डॉ. अम्बेडकर ने ऐसा

कानून नहीं बनाया कि किसी अपराधी को दण्ड देने के साथ-साथ उसके माता-पिता, दादा आदि को भी अपराधी घोषित कर दिया जाये, इसलिए कि वे उसके 'जनक' हैं। विगत को अपराधी घोषित करके उन्हें दण्डित और नष्ट-भ्रष्ट करने के इस सिद्धान्त को यदि कुछ राष्ट्रीय मामलों के लिए भी संविधान में भी लागू कर देते तो इससे उन राष्ट्रवादियों को सन्तोष होता, जिनकी यह विचारधारा रही है कि देश स्वतन्त्र होने के बाद उन लोगों को अपराधी घोषित करके दण्डित किया जाना चाहिए, जिन्होंने विगत में राष्ट्रदोह और स्वतन्त्रता द्रोह किया था, जिन्होंने विदेशी शासकों का सहयोग किया, गुप्तचरी की, देशभक्तों को फांसी दिलवायी। वे लोग मुरब्बे, पद पैसे पाकर तब भी सम्पन्न-सुखी थे, आज भी हैं और स्वतन्त्रतासेनानी दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। शायद ही ऐसी छूट किसी व्यवस्था-परिवर्तन ने दी हो ! यदि वैसा होता तो गद्दारों को सबक मिलता और भावी राष्ट्रीय एकता-अखण्डता और स्वतन्त्रता के हित में होता।

१८. वर्ण को जाति का जनक मानकर मनु को इस तरह दोषी ठहराया जा रहा है, जैसे मनु पहले ही जानते थे कि भविष्य में वर्ण से जाति का जन्म होगा, और इस आशा में वे जान बूझकर वर्ण का पोषण कर रहे थे ! डॉ. अम्बेडकर ने वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था का पोषण किया है। क्या वे जानते थे कि इससे भविष्य में कौन सी व्यवस्था का जन्म होगा ? बिल्कुल नहीं। इसी प्रकार मनु को भी नहीं पता था कि वर्णव्यवस्था का भविष्य में क्या रूप होगा।

१९. डॉ. अम्बेडकर वर्तमान जाति-पांति रहित संविधान के निर्माता एवं पोषक हैं। दुर्भाग्य से, सैकड़ों वर्षों के बाद यदि यह जातिवादी रूप ले जाये तो क्या डॉ. अम्बेडकर उस के जनक होने के जिम्मेदार बनेंगे ? सभी कहेंगे-नहीं, वे तो जातिवाद के विरोधी हैं, उन्हें जनक क्यों कहा जाये। इसी प्रकार जातिव्यवस्था, वर्णव्यवस्था की विरोधी व्यवस्था है। मनु को अपनी वर्णव्यवस्था की विरोधी जातिव्यवस्था का जनक कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रकार उन पर जातिव्यवस्था का जनक होने का आरोप सरासर गलत है। सच यह है कि बाद के समाज ने मनु की वर्णव्यवस्था को विकृत कर दिया और उसे जातिव्यवस्था में बदल दिया, अतः वही समाज इसका जनक भी है, दोषी भी।

२०. जो यह कहा गया है कि 'अकेला मनु न तो जातिव्यवस्था को बना सकता था और न लागू कर सकता था।' यह तो स्वयं ही डॉ. अम्बेडकर ने मान लिया कि इन दोनों बातों के लिए मनु जिम्मेदार नहीं है। इसका अर्थ यह निकला कि पहले से ही समाज में वर्णव्यवस्था प्रचलित थी और समाज ने उसे स्वयं स्वीकृत किया हुआ था। वह लोगों के दिल-दिमाग में रची-बसी व्यवस्था थी, लोगों द्वारा उत्तम मानी हुई व्यवस्था थी और सर्वस्वीकृत थी। मनु द्वारा थोपी नहीं गयी थी। समाज द्वारा स्वीकृत व्यवस्था थी, उसमें मनु का क्या दोष ? आपने जनता द्वारा स्वीकृत वर्तमान व्यवस्था का पोषण किया है, मनु ने समाज द्वारा स्वीकृत अपने समय की वर्णव्यवस्था का पोषण किया था। इसमें दोष या दोषी होने का अवसर ही कहां है ?

२१. संसार की सभी व्यवस्थाएं शतप्रतिशत मान्य और खरी नहीं होती। अतः कुछ कमियों के आधार पर परवर्ती जातिव्यवस्था (हिन्दू व्यवस्था) की निन्दा और अपमान करना कदापि उचित

नहीं माना जा सकता । आज की संवैधानिक व्यवस्था, जिसका न्याय, समानता आदि का दावा है, क्या सम्पूर्ण है ? अभी ही वह न जाने कितने विवादों से घिरी है । सामयिक आवश्यकता के आधार पर आरक्षण का प्रावधान किया गया है, फिर भी आज उस पर उग्र विवाद है । आज के सैकड़ों वर्ष पश्चात् जब ये परिस्थितियां विस्मृत हो जायेंगी, तब जो इस व्यवस्था का इतिहास लिखा जायेगा, शायद वह आरक्षित जातियों के लिए भी वैसा ही लिखा जायेगा, जो ब्राह्मणों के सन्दर्भ में आज प्राचीन धर्मशास्त्रों का लिखा जा रहा है ।

वर्तमान संवैधानिक व्यवस्थाओं में, उच्चतम अधिकारी से लेकर निम्नतम कर्मचारी तक के लिए परीक्षाओं-उपाधियों के अनुसार नियुक्ति का प्रावधान है । कुछ स्थान मनोनयन से भरे जाते हैं । थोड़े से वर्षों में ही स्थिति यहां तक पहुंच गयी है कि प्रशासनिक पदों के मनोनयन में, सत्ता में बैठे नेताओं, अधिकारियों के सम्बन्धी या सिफारिशी ही अधिकांशतः लिये जाते हैं, योग्यता का पैमाना भुला दिया गया है । साक्षात्कार योग्यता की जांच के लिए आयोजित होते हैं, किन्तु वहां भी हजारों नौकरियां सिफारिश और पैसे के आधार पर दी जा रही हैं । न्यायालयों द्वारा रद्द अनेक चयनसूचियां इसकी सत्यापित प्रमाण हैं । राजनीतिक क्षेत्र के पदों के मनोनयन में योग्यता नाम की कोई वस्तु दिखायी नहीं पड़ती । वहां अपने-पराये का नग्न रूप है । कल्पना कीजिए, जिसकी वि संभावनाएं प्रबल दिखायी पड़ रही हैं, सैकड़ों वर्ष बाद ये व्यवस्थाएं और अधिक विकृत होकर यदि जन्माधारित रूप ले गयीं तो क्या उसकी जिम्मेदारी डॉ. अम्बेडकर और उनकी संविधान-सभा की मानी जायेगी ? क्या उन द्वारा प्रदत्त व्यवस्था उस भावी विकृत व्यवस्था की जननी मानी जानी चाहिए ? यदि नहीं, तो मनु को भी जाति-व्यवस्था का जनक और जिम्मेदार नहीं कहा जा सकता ।

२२. इनसे भी अधिक अविचारित और खतरनाक बात जो डॉ. अम्बेडकर ने कही है, वह है-"यदि आप जातिप्रथा में दरार डालना चाहते हैं तो इसके लिए आपको हर हालत में वेदों और शास्त्रों में डायनामाइट लगाना होगा ।" (जातिप्रथा उन्मूलन पृ.९९) । एक ओर वे मानते हैं कि वेदों में जातिव्यवस्था न होकर वर्णव्यवस्था है और वर्णव्यवस्था गुण-कर्म पर आधारित होने से बुद्धिमत्तापूर्ण है, घृणास्पद नहीं, फिर भी वेदों में डयनामाइट लगाने की अनुचित और उत्तेजक बात कहते हैं । कितना परस्पर विरोधी वक्तव्य है उनका ! वेद, धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत, पुराण, गीता सभी को नष्ट-भ्रष्ट करने और उनसे नाता तोड़ने की बात कही है उन्होंने ! धर्मजिज्ञासा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आचार-व्यवहार, जीवनमूल्य सभी के आश्रय और प्रेरणा स्रोत होते हैं धर्मशास्त्र । उनको नष्ट करने का अभिप्राय है आर्य (हिन्दू) संस्कृति-सभ्यता, धर्म, सब कुछ को नष्ट करना । क्या डॉ. अम्बेडकर यही चाहते थे ? यदि डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म में रहकर पीड़ित थे और उन्हें वह छोड़ना था, तो वे उसे छोड़कर केवल 'मनुष्य' के नाते भी रह सकते थे, किन्तु धर्म के आश्रय के बिना वे नहीं रह सके । उन्होंने बौद्ध धर्म का आश्रय लिया और बौद्ध धर्मशास्त्रों को प्रमाण माना जबकि हिन्दुओं को वे धर्म और धर्मशास्त्रों का त्याग करने को कहते हैं । यहां मैं महात्मा गांधी द्वारा उस समय दिये गये उत्तर को उद्धृत करना चाहूंगा-'जैसे कोई कुरान को अस्वीकार कर मुसलमान नहीं

हो सकता, बाइबल को अस्वीकार कर ईसाई नहीं हो सकता, वैसे ही वेदों-शास्त्रों को अस्वीकार कर कोई हिन्दू कैसे हो सकता है ?' डॉ. अम्बेडकर की यह सोच ठीक वैसी ही है जैसे किसी के हाथ-पैर में फोड़ा हो जाये तो उसका आप्रेशन कर उसको निकाल देने के बजाय उस आदमी को जान से ही मार दिया जांये !

२३. वेदों में जातिव्यवस्था का नामोनिशान तक नहीं है। फिर भी डॉ. अम्बेडकर ने वेदों की अकारण आलोचना की, उनको नष्ट करने की बात कही, उनके महत्त्व को अंगीकार नहीं किया। बौद्ध होकर भी उन्होंने ऐसा ही किया है। उन्होंने बौद्ध-शास्त्रों की और अपने गुरु की अवज्ञा की है, क्योंकि बौद्ध शास्त्रों में महात्मा बुद्ध ने वेदों और वेदज्ञों की प्रशंसा करते हुए धर्म में वेदों के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। कुछ प्रमाण देखिए-

(अ) "विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्मम्।
न उच्चावचं गच्छति भूरिपञ्ञो।" (सुत्तनिपात २९२)

अर्थात्-महात्मा बुद्ध कहते हैं-'जो विद्वान् वेदों से धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है, वह कभी विचलित नहीं होता।'

(आ) "विद्वा च सो वेदगू नरो इध, भवाभवे संगं इमं विसज्जा।
सो वीतवण्हो अनिघो निरासो, अतारि सो जाति जरांति ब्रूमीति ॥"

(सुत्तनिपात १०६०)

अर्थात्-'वेद को जानने वाला विद्वान् इस संसार में जन्म और मृत्यु की आसक्ति का त्याग करके और इच्छा, तृष्णा तथा पाप से रहित होकर जन्म-मृत्यु से छूट जाता है।' अन्य श्लोक द्रष्टव्य हैं-३२२, ४५८, ५०३, ८४६, १०५९ आदि।

२४. डॉ. अम्बेडकर की मनु-विरोध परम्परा में डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा 'राष्ट्रीय कर्तव्य' के नाम से किया गया मनुस्मृति-विरोध केवल 'विरोध' के लिए ही है, जो अत्यन्त सतही है। उसमें न तर्क है, न सम्यक् विश्लेषण। अपव्याख्या और अपप्रस्तुति का आश्रय लेकर अच्छे को भी बुरा सिद्ध करने का प्रयास है। उन्हें जहां इस बात पर आक्रोश है कि मनु ने नारियों की निन्दा की है, तो इस बात पर भी दुःख है कि उन्हें "पूजार्ह = सम्मानयोग्य" क्यों कहा गया ! इसी को कहते हैं 'चित भी मेरी पट भी मेरी।' उनकी स्थिति विरोधाभासी है। महात्मा गांधी के प्रशंसक हैं, किन्तु उनके निष्कर्षों को नहीं मानते। बौद्ध हैं, किन्तु बौद्ध साहित्य में वर्णित वेद-वेदज्ञ आदि के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। स्वयं को गर्व से अवैदिक = अहिन्दू घोषित करते रहे, किन्तु हिन्दुओं के शास्त्रों के तथाकथित उद्धार में और हिन्दुओं में पूज्य महापुरुषों मनु, राम आदि की निन्दा-आलोचना में लगे रहे।

२५. मनुस्मृति-विरोधी सभी लेखकों में कुछ एकांगी और पूर्वाग्रहयुक्त बातें समानरूप से पायी जाती हैं। उन्होंने कर्मणा वर्णव्यवस्था को सिद्ध करने वाले आपत्तिरहित श्लोकों, जिनमें स्त्री-शूद्रों के लिए हितकर और सद्‌भावपूर्ण बाते हैं, जिन्हें कि पूर्वापर प्रसंग से सम्बद्ध होने के कारण मौलिक माना जाता है, को उद्धृत ही नहीं किया। केवल आपत्तिपूर्ण श्लोकों, जिन्हें कि प्रक्षिप्त माना जाता है, को उद्धृत करके निन्दा-आलोचना की है। उन्होंने इस शंका का समाधान नहीं किया है कि एक ही पुस्तक में, एक ही प्रसंग में स्पष्टतः परस्पर विरोधी कथन क्यों पाये जाते हैं? और आपने दो कथनों में से केवल आपत्तिपूर्ण कथन को ही क्यों ग्रहण किया? दूसरों की उपेक्षा क्यों की? यदि वे लेखक इस प्रश्न पर चर्चा करते तो उनकी आपत्तियों का उत्तर उन्हें स्वयं मिल जाता। न आक्रोश में आने का अवसर आता, न विरोध का, अपितु बहुत-सी भ्रान्तियों से बच जाते।

(ख) मनुस्मृति में शूद्रों की स्थिति

आइये, अब विचार करते हैं मनुस्मृति के सबसे अधिक चर्चित और विवादास्पद शूद्र सम्बन्धी विषय पर। मनुस्मृति के अन्तःसाक्ष्यों पर दृष्टिपात करने पर हमें कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत तथ्य उपलब्ध होते हैं जो शूद्रों के विषय में मनु की भावनाओं का संकेत देते हैं। वे इस प्रकार हैं-

१. **दलितों-पिछड़ों को शूद्र नहीं कहा**-आजकल की दलित, पिछड़ी और जनजाति कही जाने वाली जातियों को मनुस्मृति में कहीं 'शूद्र' नहीं कहा गया है। मनु की वर्णव्यवस्था है, अतः सभी व्यक्तियों के वर्णों का निश्चय गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर किया गया है, जाति के आधार पर नहीं। यही कारण है कि शूद्र वर्ण में किसी जाति की गणना करके यह नहीं कहा है कि अमुक-अमुक जातियां 'शूद्र' हैं। परवर्ती समाज और व्यवस्थाकारों ने समय-समय पर शूद्र संज्ञा देकर कुछ वर्णों को शूद्रवर्ग में सम्मिलित कर दिया। कुछ लोग भ्रान्तिवश इसकी जिम्मेदारी मनु पर थोंप रहे हैं। विकृत व्यवस्थाओं का दोषी तो है परवर्ती समाज, किन्तु उसका दण्ड मनु को दिया जा रहा है। न्याय की मांग करने वाले दलित प्रतिनिधियों का यह कैसा न्याय है?

२. **मनुकृत शूद्रों की परिभाषा वर्तमान शूद्रों पर लागू नहीं होती**—मनु द्वारा दी गयी शूद्र की परिभाषा भी आज की दलित और पिछड़ी जातियों पर लागू नहीं होती। मनुकृत शूद्र की परिभाषा है—जिनका ब्रह्मजन्म = विद्याजन्म रूप दूसरा जन्म होता है, वे 'द्विजाति' ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं। जिसका ब्रह्मजन्म नहीं होता वह 'एकजाति' रहनेवाला शूद्र है। अर्थात् जो बालक निर्धारित समय पर गुरु के पास जाकर संस्कारपूर्वक वेदाध्ययन, विद्याध्ययन और अपने वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करता है, वह उसका 'विद्याजन्म' नामक दूसरा जन्म है, जिसे शास्त्रों में 'ब्रह्मजन्म' कहा गया है। जो जानबूझकर, मन्दबुद्धि होने के कारण अथवा अयोग्य होने के कारण 'विद्याध्ययन' और उच्च तीन द्विज वर्णों में से किसी भी वर्ण की शिक्षा-दीक्षा नहीं प्राप्त करता, वह अशिक्षित व्यक्ति

'एकजाति = एक जन्म वाला' अर्थात् शूद्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त उच्च वर्णों में दीक्षित होकर जो निर्धारित कर्मों को नहीं करता, वह भी शूद्र हो जाता है (मनु० २.१२६,१६९,१७०,१७२; १०.४ आदि)। इस विषयक एक-दो प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

(अ) **ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः ।**
चतुर्थः एकजातिस्तु, शूद्रः नास्ति तु पंचमः ॥ (मनु० १०.४)

अर्थात्-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीन वर्णों को द्विजाति कहते हैं, क्योंकि इनका दूसरा विद्याजन्म होता है। चौथा वर्ण एकजाति = केवल माता-पिता से ही जन्म प्राप्त करने वाला और विद्याजन्म न प्राप्त करने वाला, शूद्र है। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं है।

(आ) **शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते ।** (२.१७२)

अर्थात्-जब तक व्यक्ति का ब्रह्मजन्म = वेदाध्ययन रूप जन्म नहीं होता, तब तक वह शूद्र के समान ही होता है।

(इ) **न वेत्ति अभिवादस्य....यथा शूद्रस्तथैव सः ।** (२.१२६)

अर्थात्-जो अभिवादन विधि का ज्ञान नहीं रखता, वह शूद्र ही है।

(ई) **"प्रत्यवायेन शूद्रताम्"** (४.२४५)

अर्थात्-ब्राह्मण, हीन लोगों के संग और आचरण से शूद्र हो जाता है।

बाद तक भी शूद्र की यही परिभाषा रही है-

(उ) **जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते ।** (स्कन्दपुराण)

अर्थात्-प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, उपनयन संस्कार में दीक्षित होकर ही द्विज बनता है।

मनु की यह व्यवस्था अब भी बालिद्वीप में प्रचलित है। वहां 'द्विजाति' और 'एकजाति' संज्ञाओं का ही प्रयोग होता है। शूद्र को अस्पृश्य नहीं माना जाता।

३. शूद्र अस्पृश्य नहीं-अनेक श्लोकों से ज्ञात होता है कि शूद्रों के प्रति मनु की मानवीय सद्भावना थी और वे उन्हें अस्पृश्य, निन्दित अथवा घृणित नहीं मानते थे। मनु ने शूद्रों के लिए उत्तम, उत्कृष्ट, शुचि जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है, ऐसा विशेष्य व्यक्ति कभी अस्पृश्य या घृणित नहीं माना जा सकता (९.३३५)। शूद्रों को द्विजाति वर्णों के घरों में पाचन, सेवा आदि श्रमकार्य करने का निर्देश दिया है (१.९१; ९.३३४-३३५)। किसी द्विज के यहां यदि कोई शूद्र अतिथिरूप में आ जाये तो उसे भोजन कराने का आदेश है (३.११२)। द्विजों को आदेश है कि अपने भृत्यों को, जो कि शूद्र होते थे, पहले भोजन कराने के बाद, भोजन करें (३.११६)। क्या आज के वर्णरहित सभ्य

समाज में भृत्यों को पहले भोजन कराया जाता है ? और उनका इतना ध्यान रखा जाता है ? कितना मानवीय, सम्मान और कृपापूर्ण दृष्टिकोण था मनु का !

वैदिक वर्णव्यवस्था में परमात्मापुरुष अथवा ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा, पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की आलंकारिक उत्पत्ति बतलायी है (१.३१)। इससे तीन निष्कर्ष निकलते हैं। एक, चारों वर्णों के व्यक्ति परमात्मा की एक जैसी सन्तानें हैं। दूसरा, एक जैसी सन्तानों में कोई अस्पृश्य और घृणित नहीं होता। तीसरा, एक ही शरीर का अंग 'पैर' अस्पृश्य या धृणित नहीं होता है। ऐसे श्लोकों के रहते कोई तटस्थ व्यक्ति क्या यह कह सकता है कि मनु शूद्रों को अस्पृश्य और घृणित मानते थे ?

४. **शूद्र को सम्मान व्यवस्था में छूट**-मनु ने सम्मान के विषय में शूद्रों को विशेष छूट दी है। मनुविहित सम्मान-व्यवस्था में प्रथम तीन वर्णों में अधिक गुणों के आधार पर अधिक सम्मान देने का कथन है जिनमें विद्यावान् सबसे अधिक सम्मान्य है (२.१११,११२,१३०)। किन्तु शूद्र के प्रति अधिक सद्‌भाव प्रदर्शित करते हुए उन्होंने विशेष विधान किया है कि द्विज वर्ण के व्यक्ति वृद्ध शूद्र को पहले सम्मान दें, जबकि शूद्र अशिक्षित होता है। यह सम्मान पहले तीन वर्णों में किसी को नहीं दिया गया है-

"मानार्हः शूद्रो ऽपि दशमीं गतः" (२.१३७)

अर्थात्-वृद्ध शूद्र को सभी द्विज पहले सम्मान दें। शेष तीन वर्णों में अधिक गुणी पहले सम्मान का पात्र है।

५. **शूद्र को धर्मपालन की स्वतन्त्रता**-"न धर्मात् प्रतिषेधनम्" (१०.१२६) अर्थात्-'शूद्रों को धार्मिक कार्य करने का निषेध नहीं है' यह कहकर मनु ने शूद्र को धर्मपालन की स्वतन्त्रता दी है। इस तथ्य का ज्ञान उस श्लोक से भी होता है जिसमें मनु ने कहा है कि 'शूद्र से भी उत्तम धर्म को ग्रहण कर लेना चाहिए' (२.२१३)। वेदों में शूद्रों को स्पष्टतः यज्ञ आदि करने और वेदशास्त्र पढ़ने का अधिकार दिया है—

(अ) **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥ (यजुर्वेद २६.२)

अर्थात्-मैंने इस कल्याणकारिणी वेद वाणी का उपदेश सभी मनुष्यों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, स्वाश्रित स्त्री-भृत्य आदि और अतिशूद्र आदि के लिए किया है।

(आ) **यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम्।** (ऋग्० १०.५३.४)
"पञ्चजनाः = चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चमः।" (निरुक्त ३.८)

अर्थात्-'यज्ञ करने के पात्र पांच प्रकार के मनुष्य अग्निहोत्र किया करें।' चार वर्ण और पांचवां निषाद, ये पञ्चजन कहलाते हैं।

मनु की प्रतिज्ञा है कि उनकी मनुस्मृति वेदानुकूल है, अतः वेदाधारित होने के कारण मनु की भी वही मान्यताएं हैं। यही कारण है कि उपनयन प्रसंग में कहीं भी शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया है, क्योंकि शूद्र तो तब कहाता है, जब कोई उपनयन नहीं कराता।

६. **दण्डव्यवस्था में शूद्र को सबसे कम दण्ड**-पाठकवृन्द! आइये, अब मनुविहित दण्डव्यवस्था पर दृष्टिपात करते हैं। यह कहना नितान्त अनुचित है कि मनु ने शूद्रों के लिए कठोर दण्डों का विधान किया है और ब्राह्मणों को विशेषाधिकार एवं विशेष सुविधाएं प्रदान की हैं। मनु की दण्डव्यवस्था के मानदण्ड हैं-गुण-दोष, और आधारभूत तत्व हैं-बौद्धिक स्तर, सामाजिक स्तर, पद, अपराध का प्रभाव। मनु की दण्डव्यवस्था यथायोग्य दण्डव्यवस्था है, जो मनोवैज्ञानिक है। यदि मनु वर्णों में गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर उच्च वर्णों को अधिक सम्मान और सामाजिक स्तर प्रदान करते हैं तो अपराध करने पर उतना ही अधिक दण्ड भी देते हैं। इस प्रकार मनु की यथायोग्य दण्ड व्यवस्था में शूद्र को सबसे कम दण्ड है, और ब्राह्मण को सबसे अधिक; राजा को उससे भी अधिक। मनु की यह सर्वसामान्य दण्डव्यवस्था है, जो सभी दण्डस्थानों पर लागू होती है-

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिः, तद्दोषगुणविद्धि सः॥ (८.३३७-३३८)

अर्थात्-किसी चोरी आदि के अपराध में शूद्र को आठ गुणा दण्ड दिया जाता है तो वैश्य को सोलहगुणा, क्षत्रिय को बत्तीसगुणा, ब्राह्मण को चौंसठगुणा, अपितु उसे सौगुणा अथवा एक सौ अट्ठाईसगुणा दण्ड करना चाहिए क्योंकि उत्तरोत्तर वर्ण के व्यक्ति अपराध के गुण-दोषों और उनके परिणामों, प्रभावों आदि को भलीभांति समझने वाले हैं।

इसके साथ ही मनु ने राजा को आदेश दिया है कि उक्त दण्ड से किसी को छूट नहीं दी जानी है, चाहे वह आचार्य, पुरोहित और राजा के पिता-माता ही क्यों न हों। राजा दण्ड दिये बिना मित्र को भी न छोड़े और कोई समृद्ध व्यक्ति शारीरिक अपराधदण्ड के बदले में विशाल धनराशि देकर छूटना चाहे तो उसे भी न छोड़े (८.३३५, ३४७)

देखिए, मनु की दण्डव्यवस्था कितनी मनोवैज्ञानिक, न्यायपूर्ण, व्यावहारिक और श्रेष्ठप्रभावी है। इसकी तुलना आज की दण्डव्यवस्था से करके देखिए, दोनों का अन्तर स्पष्ट हो

जायेगा। आज की दण्डव्यवस्था का नारा है-'कानून की दृष्टि में सब समान हैं।' पहला विरोध यही हुआ कि पदस्तर और सामाजिक स्तर के अनुसार सम्मान व्यवस्था तो पृथक्-पृथक् हैं और दण्ड एक जैसा ! दूसरा, यथायोग्य दण्ड नहीं। इसे यों समझिए कि खेत चर जाने पर मेमने को भी एक डण्डा लगेगा, भैंसे, हाथी को भी। इसका प्रभाव क्या होगा ? बेचारा मेमना डण्डे के प्रहार से मिमियाने लगेगा, भैंसे में कुछ हलचल होगी, हाथी को अनुभूति ही नहीं होगी। क्या यह वास्तव में समान दण्ड हुआ ? समान दण्ड तो वह है, जो लोकव्यवहार में प्रचलित है। भैंसे को लाठी से, हाथी को अंकुश से और शेर को हण्टर से वश में किया जाता है। दूसरा उदाहरण लीजिए-एक अत्यन्त गरीब एक हजार के दण्ड को कर्ज लेकर चुका पायेगा, मध्यमवर्गीय थोड़ा कष्ट अनुभव करके और समृद्ध-सम्पन्न जूती की नोक पर रख कर देगा। इसी अमनोवैज्ञानिक दण्डव्यवस्था का परिणाम है कि दण्ड की पतली रस्सी में आज गरीब तो फंस जाते हैं, धन-पद-सत्ता-सम्पन्न शक्तिशाली लोग उस रस्सी को तुड़ा कर निकल भागते हैं। आंकड़े इकट्ठे करके देख लीजिए, स्वतन्त्रता के बाद कितने गरीबों को सजा हुई है, और कितने धन-पद-सत्ता-सम्पन्न लोगों को ! आर्थिक अपराधों में समृद्ध लोग अर्थदण्ड भरते रहते हैं, अपराध करते रहते हैं। मनु की यथायोग्य दण्ड-व्यवस्था में ऐसा असन्तुलन नहीं है।

मनु की दण्डव्यवस्था अपराध की प्रकृति पर निर्भर है। वे गम्भीर अपराध में यदि कठोर दण्ड का विधान करते हैं तो चारों वर्णों को ही, और यदि सामान्य अपराध में सामान्य दण्ड का विधान करते हैं, तो वह भी चारों वर्णों के लिए सामान्य होता है। शूद्रों के लिए जो कठोर दण्डों का विधान मिलता है वह प्रक्षिप्त श्लोकों में है। उक्त दण्डनीति के विरुद्ध जो श्लोक मिलते हैं, वे मनुरचित नहीं हैं।

७. **शूद्र दास नहीं है**-शूद्र से दासता कराने अथवा जीविका न देने का कथन मनु के निर्देशों के विरुद्ध है। मनु ने सेवकों, भृत्यों का वेतन, स्थान और पद के अनुसार नियत करने का आदेश राजा को दिया है और यह सुनिश्चित किया है कि उनका वेतन अनावश्यक रूप से न काटा जाये (७.१२५-१२६-;८.२१६)।

८. **शूद्र सवर्ण हैं**-वर्तमान मनुस्मृति को उठाकर देख लीजिए, उनकी ऐसी कितनी ही व्यवस्थाएं हैं, जिन्हें परवर्ती समाज ने अपने ढंग से बदल लिया है। मनु ने शूद्र सहित चारों वर्णों को सवर्ण माना है, चारों से भिन्न को असवर्ण (१०.४,४५), किन्तु परवर्ती समाज शूद्र को असवर्ण कहने लग गया। मनु ने शिल्प, कारीगरी आदि के कार्य करने वाले लोगों को वैश्य वर्ण के अन्तर्गत माना है (३.६४;९.३२९;१०.९९;१०.१२०), किन्तु परवर्ती समाज ने उन्हें भी शूद्रकोटि में ला खड़ा कर दिया। दूसरी ओर, मनु ने कृषि, पशुपालन को वैश्यों का कार्य माना है (१.९०), किन्तु सदियों

से ब्राह्मण और क्षत्रिय भी कृषि-पशुपालन कर रह हैं, उन्हें वैश्य घोषित नहीं किया। इनको मनु की व्यवस्था कैसे माना जा सकता है ?

इस प्रकार मनु की व्यवस्थाएं न्यायपूर्ण हैं। उन्होंने न शूद्र और न किसी अन्य वर्ण के साथ अन्याय या पक्षपात किथा है।

(ग) मनुस्मृति में नारियों की स्थिति

मनुस्मृति के अन्तःसाक्ष्य कहते हैं कि मनु की जो स्त्री-विरोधी छवि प्रस्तुत की जा रही है, वह निराधार एवं तथ्यों के विपरीत है। मनु ने मनुस्मृति में स्त्रियों से सम्बन्धित जो व्यवस्थाएं दी हैं वे उनके सम्मान, सुरक्षा, समानता, सद्‌भाव और न्याय की भावना से प्रेरित हैं। कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं-

१. **नारियों को सर्वोच्च महत्त्व**-महर्षि मनु संसार के वह प्रथम महापुरुष हैं, जिन्होंने नारी के विषय में सर्वप्रथम ऐसा सर्वोच्च आदर्श उद्‌घोष दिया है, जो नारी की गरिमा, महिमा और सम्मान को असाधारण ऊंचाई प्रदान करता है-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैताः तु न पूज्यन्ते सर्वाः तत्राफलाः क्रियाः॥ (३.५६)

इसका सही अर्थ है-'जिस परिवार में नारियों का आदर-सम्मान होता है, वहां देवता = दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव, सन्तान, दिव्य लाभ आदि प्राप्त होते हैं और जहां इनका आदर-सम्मान नहीं होता, वहां उनकी सब क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।'

स्त्रियों के प्रति प्रयुक्त सम्मानजनक एवं सुन्दर विशेषणों से बढ़कर, नारियों के प्रति मनु की भावना का बोध कराने वाले प्रमाण और कोई नहीं हो सकते। वे कहते हैं कि नारियां घर का भाग्योदय करने वाली, आदर के योग्य, घर की ज्योति, गृहशोभा, गृहलक्ष्मी, गृहसंचालिका एवं गृहस्वामिनी, घर का स्वर्ग, संसारयात्रा की आधार हैं (९.११, २६, २८; ५.१५०)। कल्याण चाहने वाले परिवारजनों को स्त्रियों का आदर-सत्कार करना चाहिये, अनादर से शोकग्रस्त रहने वाली स्त्रियों के कारण घर और कुल नष्ट हो जाते हैं। स्त्री की प्रसन्नता में ही कुल की वास्तविक प्रसन्नता है (३.५५-६२)। इसलिए वे गृहस्थों को उपदेश देते हैं कि परस्पर संतुष्ट रहें एक दूसरे के विपरीत आचरण न करें और ऐसा कोई कार्य न करें जिससे एक-दूसरे से वियुक्त होने की स्थिति आ जाये (९.१०१-१०२)। मनु की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए एक श्लोक ही पर्याप्त है-

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हाः गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषो ऽस्ति कश्चन॥ (मनु० १.२६)

अर्थात्-सन्तान उत्पत्ति के लिए घर का भाग्योदय करने वाली, आदर-सम्मान के योग्य, गृहज्योति होती हैं स्त्रियां। शोभा-लक्ष्मी और स्त्री में कोई अन्तर नहीं है, वे घर की प्रत्यक्ष शोभा हैं।

२. **पुत्र-पुत्री एक समान**-मनुमत से अनभिज्ञ पाठकों को यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि मनु ही सबसे पहले वह संविधान निर्माता हैं जिन्होंने पुत्र-पुत्री की समानता को घोषित करके उसे वैधानिक रूप दिया है-

"पुत्रेण दुहिता समा" (मनु० ९.१३०)

अर्थात्-'पुत्री पुत्र के समान होती है। वह आत्मारूप है, अतः वह पैतृकसम्पत्ति की अधिकारिणी है।'

३. **पुत्र-पुत्री को पैतृक सम्पत्ति में समान अधिकार**-मनु ने पैतृक सम्पत्ति में पुत्र-पुत्री को समान अधिकारी माना है। उनका यह मत मनुस्मृति के ९.१३०,१९२ में वर्णित है। इसे निरुक्त में इस प्रकार उद्धृत किया गया है-

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ (३.१.४)

अर्थात्-सृष्टि के प्रारम्भ में स्वायम्भुव मनु ने यह विधान किया है कि दायभाग = पैतृक सम्पत्ति में पुत्र-पुत्री का समान अधिकार होता है। मातृधन में केवल कन्याओं का अधिकार विहित करके मनु ने परिवार में कन्याओं के महत्त्व में अभिवृद्धि की है (९.१३१)।

४. **स्त्रियों के धन की सुरक्षा के विशेष निर्देश**—स्त्रियों को अबला समझकर कोई भी, चाहे वह बन्धु-बान्धव ही क्यों न हों, यदि स्त्रियों के धन पर कब्जा कर लें, तो उन्हें चोर सदृश दण्ड से दण्डित करने का आदेश मनु ने दिया है (९.२१२;३.५२;८.२;८-२९)।

५. **नारियों के प्रति किये अपराधों में कठोर दण्ड**—स्त्रियों की सुरक्षा के दृष्टिगत नारियों की हत्या और उनका अपहरण करने वालों के लिए मृत्युदण्ड का विधान करके तथा बलात्कारियों के लिए यातनापूर्ण दण्ड देने के बाद देश निकाला का आदेश देकर मनु ने नारियों की सुरक्षा को सुनिश्चित बनाने का यत्न किया है (८.३२३;९.२३२;८.३५२)। नारियों के जीवन में आने वाली प्रत्येक छोटी-बड़ी कठिनाई का ध्यान रखते हुए मनु ने उनके निराकरण हेतु स्पष्ट निर्देश दिये हैं। पुरुषों को निर्देश है कि वे माता, पत्नी और पुत्री के साथ झगड़ा न करें (४.१८०), इन पर मिथ्या दोषारोपण करने वालों, इनको निर्दोष होते हुए त्यागने वालों, पत्नी के प्रति वैवाहिक दायित्व न निभाने वालों के लिए दण्ड का विधान है (८.२७५,३८९;९.४)।

६. **वैवाहिक स्वतन्त्रता एवं अधिकार**—विवाह के विषय में मनु के आदर्श विचार हैं। मनु ने कन्याओं को योग्य पति का स्वयं वरण करने का निर्देश देकर स्वयम्वर विवाह का अधिकार एवं उसकी स्वतन्त्रता दी है (९.९०-९१)। विधवा को पुनर्विवाह का भी अधिकार दिया है, साथ ही सन्तानप्राप्ति के लिए नियोग की भी छूट है (९.१७६,९.५६-६३)। उन्होंने विवाह को कन्याओं के आदर-स्नेह का प्रतीक बताया है, अतः विवाह में किसी भी प्रकार के लेन-देन को अनुचित बताते हुए बल देकर उसका निषेध किया है (३.५१-५४)। स्त्रियों के सुखी-जीवन की कामना से उनका सुझाव है कि जीवनपर्यन्त अविवाहित रहना श्रेयस्कर है, किन्तु गुणहीन, दुष्ट पुरुष से विवाह नहीं करना चाहिए (९.८९)।

७. **सहभागिता तथा धर्मानुष्टान में अपरिहार्यता**—विश्व के सभी धर्मों में से केवल वैदिक धर्म में और सभी देशों में से भारतवर्ष में स्त्रियों को पुरुष के कार्यों में जो सहभागिता प्राप्त है वह अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। यहां का कोई भी धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक आयोजन-अनुष्ठान स्त्री को साथ लिए बिना सम्पन्न नहीं होता। यही मनु की मान्यता है। इसलिए धर्मानुष्ठान के प्रबन्ध का दायित्व स्त्री को सौंपा है और उसकी सहभागिता से ही प्रत्येक अनुष्ठान करने का निर्देश दिया है (९.११,२८,९६)। वैदिक काल में स्त्रियों को वेदाध्ययन, यज्ञोपवीत, यज्ञ आदि के सभी अधिकार प्राप्त थे। वे ब्रह्मा के पद को सुशोभित करती थीं। उच्च शिक्षा प्राप्त करके मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिकाएं बनती थी। वेदों को धर्म में परम प्रमाण मानने वाले ऋषि मनु वेदानुसार स्त्रियों के सभी धार्मिक अधिकारों तथा उच्च शिक्षा के समर्थक हैं। तभी उन्होंने स्त्रियों के अनुष्ठान मन्त्रपूर्वक करने और धर्मकार्यों का अनुष्ठान स्त्रियों के अधीन घोषित किया है (२.४; ३.२८)।

८. **स्त्रियों को प्राथमिकता**-'लेडीज फस्ट' की सभ्यता के प्रशंसकों को यह पढ़कर और अधिक प्रसन्नता होनी चाहिए कि मनु ने सभी को यह निर्देश दिया है कि 'स्त्रियों के लिए पहले रास्ता छोड़ दें। नवविवाहिताओं, कुमारियों, रोगिणी, गर्भिणी, वृद्धा आदि स्त्रियों को पहले भोजन करा के फिर पति-पत्नी को साथ भोजन करने का कथन है (२.१३८; ३.११४,११६)। मनु के ये सब विधान स्त्रियों के प्रति सम्मान और स्नेह के द्योतक हैं।'

९. **स्त्रियों की अमर्यादित स्वतन्त्रता के पक्षधर नहीं**-यहां प्रसंगवश यह स्पष्ट कर देना उपयोगी रहेगा कि मनु गुणों के प्रशंसक हैं और अवगुणों के निन्दक। गुणियों को सम्मानदाता हैं, अवगुणियों को दण्डदाता। यदि उन्होंने गुणवती स्त्रियों को पर्याप्त सम्मान दिया है, तो अवगुणवती स्त्रियों की निन्दा की है और दण्ड का विधान किया है। मनु की एक विशेषता और है, वह यह कि वे नारी की असुरक्षित तथा अमर्यादित स्वतन्त्रता के पक्षधर नहीं हैं और न उन बातों का समर्थन करते हैं जो परिणाम में अहितकर हैं। इसीलिए उन्होंने स्त्रियों को चेतावनी देते हुए सचेत किया है कि वे स्वयं को पिता, पति, पुत्र आदि की सुरक्षा से अलग न करें, क्योंकि एकाकी रहने से दो कुलों की निन्दा

होने की आशंका रहती है (५.१४९; ९.५-६)। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनु स्त्रियों की स्वतन्त्रता के विरोधी हैं। इसका निहितार्थ यह है कि नारी की सर्वप्रथमं सामाजिक आवश्यकता है-सुरक्षा की। वह सुरक्षा उसे, चाहे शासन-कानून प्रदान करे अथवा कोई पुरुष या स्वयं का सामर्थ्य। भोगवादी आपराधिक प्रवृत्तियां उसके स्वयं के सामर्थ्य को सफल नहीं होने देती। उदाहरणों से पता चलता है कि शस्त्रधारिणी डाकू स्त्रियों तक को भी पुरुष-सुरक्षा की आवश्यकता रही है। मनु के उक्त कथन को आज की राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखना सही नहीं है। आज देश में एक शासन है और कानून उसका रक्षक है। फिर भी हजारों नारियां अपराधों की शिकार होकर जीवन की बर्बादी की राह पर चलने को विवश हैं। प्रतिदिन बलात्कार, नारी-हत्या जैसे जघन्य अपराधों की हजारों घटनाएं होती रहती हैं। जब राजतन्त्र में उथल-पुथल होती रहती है, कानून शिथिल पड़ जाते हैं, तब क्या परिणाम होगा, उस स्थिति में मनु के वचनों के महत्त्व को आंककर देखना चाहिये। तब यह मानना पड़ेगा कि वे शतप्रतिशत सही हैं।

उपुर्यक्त विश्लेषण से हमें यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति की व्यवस्थाएं स्त्री-शूद्रविरोधी नहीं हैं, वे न्यायपूर्ण और पक्षपातरहित हैं। मनु ने कुछ भी ऐसा नहीं कहा जो निन्दा अथवा आपत्ति के योग्य हो।

मनुस्मृति में प्रक्षेप

अब प्रश्न उठता है, कि ठीक है, मनुस्मृति में उत्तम विधानों के श्लोक हैं, किन्तु मनु-विरोधी लेखकों द्वारा प्रस्तुत श्लोक भी तो मनुस्मृति के ही हैं, जो सर्वथा आपत्ति योग्य हैं। इस प्रकार बड़ी उलझनभरी स्थिति ज्ञात होती है मनुस्मृति की। उसमें एक ही साथ न्यायपूर्ण श्रेष्ठ विधान भी हैं और अन्यायपूर्ण निन्द्य विधान भी! लेकिन क्या मौलिक रूप से यह स्थिति संभव मानी जा सकती है? जब एक प्रबुद्ध सामान्य लेखक की रचना में भी इस प्रकार के परस्पर विरोध नहीं मिलते तो एक धर्मवेत्ता, विधिवेत्ता ऋषि के धर्म और विधिशास्त्र में ऐसे विरोध कैसे हो गये? इसका सीधा-स्पष्ट और निर्विवाद उत्तर है कि जो न्यायपूर्ण, श्रेष्ठ और गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित विधान हैं, वे मनु के मौलिक श्लोक हैं, जो इनके विरुद्ध अन्याय और पक्षपातपूर्ण हैं, वे प्रक्षिप्त हैं अर्थात् समय-समय पर बाद के लोगों ने रचकर मनुस्मृति में मिला दिये हैं। इस उत्तर की पुष्टि मनुस्मृति पर आधारित मादडण्डों से ही हो जाती है। मौलिक श्लोक पूर्वापर प्रसंगों से, विषयों से जुड़े हुए हैं और गुण-कर्म-योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित गम्भीर शैली में हैं, जबकि प्रक्षिप्त श्लोक प्रसंग और विषयविरुद्ध तथा भिन्न शैली के हैं। इन आधारों के अनुसार अब हम कह सकते हैं कि इस लेख में उद्धृत श्लोक मौलिक हैं और इनकी भावना के विपरीत श्लोक प्रक्षिप्त हैं, जिन्हें कि मनु-विरोधी

लेखकों ने विरोध का आधार बनाया है । संक्षेप में, प्रस्तुत विषय के मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोक इस प्रकार हैं-

१. मनु की व्यवस्था 'वैदिक वर्णव्यवस्था' है (डॉ. अम्बेडकर ने भी इसे स्वीकार किया है), अतः गुण-कर्म-योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित जो श्लोक हैं, वे मौलिक हैं । इनके विरुद्ध जन्मना जातिविधायक और जन्म के आधार पर पक्षपात का विधान करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

मनु के समय जातियां नहीं बनी थीं । यही कारण है कि मनु ने वर्णों में जातियों की गणना नहीं दर्शायी है । इस शैली और सिद्धान्त के आधार पर वर्णसंस्कारों से सम्बन्धित श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं ।

२. इस लेख में उद्धृत मनु की यथायोग्य दण्डव्यवस्था, जो कि उनका 'जनरल कानून' है, मौलिक है; इसके विरुद्ध पक्षपातपूर्ण कठोर दण्डव्यवस्था विधायक श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

३. इस लेख में उद्धृत शूद्र की परिभाषा, शूद्रों के प्रति सद्‌भाव, शूद्रों के धर्मपालन, वर्णपरिवर्तन आदि के विधायक श्लोक मौलिक हैं; उनके विपरीत जन्मना शूद्रनिर्धारक, स्पृश्यापृश्य, ऊंच-नीच, अधिकारों के शोषण आदि के विधायक श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

४. इस लेख में उद्धृत नारियों के सम्मान, स्वतन्त्रता, समानता, शिक्षा विधायक श्लोक मौलिक हैं, इसके विपरीत प्रक्षिप्त हैं ।

इन श्लोकों की मौलिकता और प्रक्षिप्तता को यदि पाठक, और अधिक गम्भीरता तथा विस्तार से जानना चाहें, तो वे **'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४५५-खारी बावली, दिल्ली'** से प्रकाशित मनुस्मृति (सम्पूर्ण) का अध्ययन कर सकते हैं । इसमें कृतित्व पर आधारित सर्वसामान्य मानदण्डों के आधार पर मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक् दर्शा कर उन पर युक्ति-प्रमाण सहित समीक्षा दी गयी है । मनुस्मृति की मौलिक विषयवस्तु की जानकारी देने, प्रक्षिप्त श्लोकों को कारणपूर्वक समझाने और मनुस्मृति सम्बन्धी भ्रान्तियों के निराकरण के दृष्टिकोण से यह संस्करण पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगा । प्रक्षिप्तों पर यह नवीनतम शोधकार्य है ।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रक्षिप्त श्लोक अब विवाद नहीं रह गये हैं, अपितु एक निर्णय के रूप में मान्य हो गये हैं । भारतीय साहित्य की यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है, और इसके लिखित प्रमाण भी उपलब्ध हैं कि अधिकांश प्राचीन संस्कृत साहित्य में समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं । महाभारत के उल्लेख के अनुसार, दस हजार श्लोकों का काव्य बढ़ते-बढ़ते एक लाख श्लोकों का संग्रह बन गया । एक हजार वर्ष पुरानी हस्तलिखित रामायण से जो नेपाल के अभिलेखागार में सुरक्षित है, आज की रामायण में सैंकड़ों श्लोक अधिक पाये जाते हैं । यही स्थिति मनुस्मृति की है, अपितु इसमें अधिक परिवर्तन-परिवर्धन-प्रक्षेप हुए हैं । कारण, इसका मनुष्य

के दैनिक आचार-व्यवहार से अधिक सम्बन्ध था, अतः स्वार्थवश उतनी ही अधिक छेड़छाड़ की गयी। मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों के विषय में सभी वर्गों के विद्वान् एकमत हैं। इसकी टीकाएं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बाद-बाद की टीका में अधिक श्लोक पाये जाते हैं। मेधातिथि (९वीं शताब्दी) की तुलना में कुल्लूकभट्ट (१२वीं शताब्दी) की टीका में एक सौ सत्तर श्लोक अधिक हैं। वे तब तक घुल-मिल नहीं पाये थे, अतः बृहत् कोष्ठक में दिये गये हैं। अन्य टीकाओं में भी श्लोक संख्या में अन्तर है।

- अंग्रेज शोधकर्ता वूलर, जे. जौली, कीथ, मैकडानल और इन्साइक्लोपीडिया (अमेरिका) के लेखक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुस्मृति में प्रक्षेप होते रहे हैं।
- आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने प्रक्षेप रहित मनुस्मृति को प्रमाण माना है। उन्होंने कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छांटा है और छांटने की प्रेरणा दी है।
- महात्मा गांधी ने अपनी 'वर्ण व्यवस्था' नामक पुस्तक में स्वीकार किया है कि मनुस्मृति में पायी जाने वाली आपत्तिजनक बातें बाद में की गयी मिलावटें हैं। डॉ. राधाकृष्णन्, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि राष्ट्रनेता एवं विद्वान् भी यही मानते हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनु एवं मनुस्मृति को मौलिक रूप में समझा जाये और प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर किये जाने विरोध का परित्याग किया जाये। मनु एवं मनुस्मृति गर्व करने योग्य हैं, निन्दा करने योग्य नहीं। भ्रान्तिवश हमें अपनी अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण धरोहर को निहित स्वार्थमयी राजनीति में घसीटकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये।

* * * * *

मनुस्मृति

का

पुनर्मूल्यांकन

(भूमिका भाग)

भूमिका — विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

[मनुस्मृति – महत्ता, रचयिता, काल एवं आद्यरूप]

१. मनुस्मृति की महत्ता एवं प्रभाव

भारतीय साहित्य में मनुप्रोक्त स्मृति का 'मनुस्मृति' 'मनुसंहिता' 'मानवधर्मशास्त्र' 'मानवशास्त्र आदि कई नामों से उल्लेख आता है। मनुस्मृति भारतीय साहित्य में सर्वाधिक चर्चित धर्मशास्त्र है, क्योंकि अपने रचना काल से ही यह सर्वाधिक प्रामाणिक, मान्य एवं लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। स्मृतियों में इसका स्थान सबसे ऊंचा है। यही कारण है कि परवर्ती काल में अनेक स्मृतियां प्रकाश में आयीं किन्तु मनुस्मृति के प्रभाव के समक्ष टिक न सकीं, अपना प्रभाव न जमा सकीं; जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक बना हुआ है।

मनुस्मृति एक विधि-विधानात्मक शास्त्र है. इसमें जहां एक ओर वर्णाश्रम धर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों, नैतिक कर्त्तव्यों. मर्यादाओं, आचरणों का वर्णन है, वहां श्रेष्ठ समाज-व्यवस्था के लिए विधानों = कानूनों का निर्धारण भी है, और साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण है। यों कहिये कि यह भौतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाओं का मिला-जुला अनूठा धर्मशास्त्र है। इस प्रकार यह व्यक्ति एवं समाज के लिए धर्मशास्त्र एवं आचारशास्त्र है, तो साथ ही सामाजिक व्यवस्थाओं को सुचारु रूप में रखने के लिए 'संविधान' भी है।

मनुस्मति को इतना अधिक महत्त्वशाली, सम्मान्य तथा लोकप्रिय बनाने वाले कारणों में जहां इसके व्यक्ति और समाज के लिए हितकारी, व्यावहारिक एवं युक्तियुक्त विधि-विधान हैं, वहां इसकी प्राचीनता एवं वेदानुकूलता भी उल्लेखनीय कारण है। सर्वप्राचीन, सर्वाधिक मान्य और श्रद्धेय होने से वेद ही समस्त भारतीय साहित्य के मूलस्रोत हैं तभी तो मनु ने भी वेदों को ही प्रधानरूप से अपनी स्मृति का आधार बनाया है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि —

''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' (मनु २।६)

अर्थात् —वेद ही धर्म के मूलाधार हैं।

मन्त्रार्थों के साक्षात्द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने वेदों के मौलिक सिद्धान्तों को समझकर ही वेदांग ब्राह्मण, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों की रचना की, जिससे मानव, ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञान को छोड़कर अपने चरमलक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकें। मनु ने भी मनुस्मृति में वर्णों एवं आश्रमधर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों-कर्त्तव्यों, विधानों का वर्णन वेद के आधार पर ही किया है[1] और धर्म जिज्ञासा में वेद को ही परम प्रमाण माना है —

''धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः (मनु. २।१३)

अर्थात् – धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है। उसी से धर्म-अधर्म का निश्चय करें।

मनु की वेदों के प्रति गहन श्रद्धा है। वे वेदों को अपौरुषेय मानते हैं।[2] क्योंकि वेदज्ञान

---

१. २।८-९ ।।

२. ''विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य.... (मनु. १।३)

अपौरुषेय होने से निर्भ्रान्त ज्ञान है, धर्म का मूल स्रोत है एवं परमप्रमाण है, अत : वह कुतर्कों द्वारा खण्डनीय नहीं है । जो कुतर्क आदि का आश्रय लेकर वेदज्ञान का खण्डन, अवमानना या निन्दा करता है, उसे वे 'नास्तिक' जैसे तिरस्कारपूर्ण शब्द से सम्बोधित करते हैं –

> **ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।।**
> **योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज : ।**
> **स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक : ।।** (मनु. २।१०-११)

अर्थात् – श्रुति और स्मृतिग्रन्थों की किसी भी अवस्था में आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन्हीं से धर्म की उत्पत्ति हुई है । वही धर्म के मूल स्रोत हैं । जो व्यक्ति तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्क आदि से उनकी अवमानना-निन्दा करता है, साधु-श्रेष्ठ लोगों को चाहिए कि उसे समाज से बहिष्कृत कर दें ; क्योंकि वेद की निन्दा करने वाला वह व्यक्ति नास्तिक है ।

मनुस्मृति को गौरव प्रदान कराने वाले कारणों में यह कारण भी विशेष स्थान रखता है कि मनु अपने समय के एक प्रख्यात, तत्त्वद्रष्टा धर्मवेत्ता ऋषि थे और अपने समय में धर्मनिष्ठ, न्यायकारी प्रजाप्रिय शासक रहे थे । इसका प्रमाण मनुस्मृति की भूमिका में उल्लिखित वचनों से मिलता है । जिज्ञासु ऋषियों ने धर्मज्ञान के लिए महर्षि मनु को चुना, क्योंकि अपने समय के वही एकमात्र अधिकारी एवं विशेषज्ञ विद्वान् थे जो धर्मों को यथार्थरूप में बतला सकते थे । धर्मों के मूलस्रोत अपौरुषेय अचिन्त्य अपरिमित ज्ञान वाले वेदों के ज्ञाता और उनमें निर्दिष्ट धर्मों के ज्ञाता केवल मनु ही हैं, ऐसा ऋषियों ने अनुभव किया[३] । निश्चय ही मनु 'अमितौजा' = अत्यधिक ज्ञानशक्ति से सम्पन्न व्यक्ति थे ।[४] इस बात से भी उनकी अगाध विद्वत्ता का संकेत मिलता है कि उन्होंने धर्मप्रवचन का अधिकार केवल उन्हीं विद्वानों को दिया है ''जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते हुए धर्मपूर्वक सांगोपांग वेद पढ़े हैं और जिन्होंने वेदार्थों का प्रत्यक्ष किया है, वे ही धार्मिक और परोपकारी विद्वान् धर्मनिर्णय करने के अधिकारी हैं" । उन्हीं के वचन और आचरण धर्म में प्रमाण माने जा सकते हैं ।[५] जो व्यक्ति धर्मनिर्णय में केवल उपर्युक्त विद्वानों को ही प्रमाण मान रहा है, वह स्वयं विशिष्ट विद्वान् अवश्य रहा होगा, फिर ऐसे अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रोक्त धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता और महत्ता को कौन नहीं स्वीकार करेगा ?

यही कारण है कि समस्त भारतीय साहित्य में मनु के वचनों को आदर की दृष्टि से देखा गया है और प्रामाणिक माना है । यहाँ कुछ भारतीय एवं भारतीयेतर प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनसे मनुस्मृति की महत्ता, प्रामाणिकता प्रभावशालिता एवं लोकप्रियता का निश्चय आसानी से किया जा सकता है ।

---

३. ''भगवन् . . . धर्मान् न : वक्तुमर्हसि ।। त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव : । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।। मनु १।२-३ ।।

४. 'स तै : पृष्टस्तथा सम्यक्-अमितौजा'' ।। मनु. १।४ ।।

५. यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयु : स धर्म : स्यादशंकित : ।। धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद : सपरिबृंहण : । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया : श्रुतिप्रत्यक्षहेतव : ।। मनु. १२।१०८-१०९ ।।

६. १२।११३, १०६, ११०-११२ ।।

(क) भारत में मनुस्मृति का प्रभाव एवं महत्त्व

मनुस्मृति का आद्यरूप क्या था, इस विषय में आगे इसी अध्याय में विचार किया जायेगा। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनु के धर्मशास्त्र का अस्तित्व वैदिक काल से ही रहा है। इसकी पुष्टि कई संहिताग्रन्थों, ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग एक जैसे रूप में पाये जाने वाले निम्न वाक्य से हो जाती है —

''मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद् भेषजम्''[7]

अर्थात् — मनु ने जो कुछ कहा है, वह मानवों के लिए भेषज = औषध के समान कल्याणकारी एवं गुणकारी है।

ब्राह्मणग्रन्थों का यह वचन यह सिद्ध करता है कि उस समय मनु के धर्मशास्त्र को प्रामाणिक माना जाता था। धर्मनिश्चय में उसका सर्वाधिक महत्त्व था। एक ही रूप में कई ग्रन्थों में पाया जाने वाला यह वाक्य इस बात की ओर भी इंगित करता है कि मनु का धर्मशास्त्र उस समय इतना लोकप्रिय हो चुका था कि वह औषध के तुल्य हितकारी, गुणकारी के रूप में स्वीकृत था। तभी तो उसके विषय में यह उक्ति भी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

निरुक्तशास्त्र में महर्षि यास्क ने दायभाग में पुत्र और पुत्री के समान अधिकार के विषय में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करके मनु के मत का उल्लेख किया है[8]। मनु का यह समानाधिकार सम्बन्धी मत प्रचलित मनुस्मृति के ९।१३०, १९२, २१२ श्लोकों में वर्णित है[9]। इससे भी मनु के वचनों की विशेष प्रामाणिकता और महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण में, बालि और सुग्रीव के परस्पर युद्ध के अवसर पर राम द्वारा बालि का वध किये जाने पर घायल बालि राम के इस कृत्य को अनुचित एवं अधर्मानुकूल ठहराता है। तब राम अपने इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति के वचनों का सहारा लेते हैं और दो श्लोक उद्धृत करके अपने कार्य को धर्मानुकूल सिद्ध करते हैं।[10] ये दोनों श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में किंचित् पाठान्तर से ८।३१६, ३१८ में पाये जाते हैं। इन वचनों से भी ज्ञात होता है कि उस समय मनुस्मृति को धर्मनिश्चय में अत्यधिक प्रामाणिकता, प्रसिद्धि, मान्यता और महत्ता प्राप्त थी।

महाभारत में अनेक स्थलों पर मनु को विशिष्ट प्रामाणिक स्मृतिकार के रूप में वर्णित किया है[11]। महाभारत के निम्न श्लोक से ज्ञात होता है कि उस समय मनु के वचनों को कुतर्क आदि के द्वारा अकाट्य माना जाता था —

पुराणं मानवो धर्मः सांगोपांगचिकित्सकः।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः।। (महा.)

७. तैत्ति सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४।। तां. ब्रा. २३।१६।७।।

८. निरु. ३।४।। अर्थ सहित श्लोक द्रष्टव्य है, — मनु. का. पु. प्रथम अध्याय 'मनु कालनिर्णय' शीर्षकान्तर्गत।

९. यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्।।९।१३०।।
— जैसी अपनी आत्मा है, वैसा ही पुत्र होता है, और पुत्र के समान ही पुत्री होती है; उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुए कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है, अर्थात् पुत्र के साथ पुत्री भी धन की अधिकारिणी होती है।। द्रष्टव्य मनु. ९।१९२, और २१२ भी।।

१०. किष्कि. १८।३०, ३२।। अर्थसहित श्लोक द्रष्टव्य है — मनु. का. पु. प्रथम अध्याय, 'मनुस्मृति कालनिर्णय' शीर्षकान्तर्गत।

११. महा. आदि. ७३।८९।। शान्ति. ३६।३।। शान्ति. ५६।२३; ११८।२६; १२१।१०, १२; २०१।३२-३३; ३३५।४४, ४६ आदि।।

अर्थात् — पुराण[१२] अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ, मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म, सांगोपांग चिकित्सक, धार्मिक विद्वानों की आज्ञा से सिद्ध कार्य, इन चारों का हेतुशास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्क आदि द्वारा खण्डन नहीं करना चाहिए ।

आचार्य बृहस्पति ने तो अपनी स्मृति में स्पष्ट शब्दों में मनुस्मृति को सर्वोच्च स्मृति घोषित किया है । उसकी प्रामाणिकता और महत्ता की उद्घोषणा करते हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं —

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ।।
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च ।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ।। (बृह. स्मृति)

अर्थात् —वेदार्थों के अनुसार रचित होने के कारण सब स्मृतियों में मनुस्मृति ही सबसे प्रधान एवं प्रशंसनीय है । जो स्मृति मनु के अर्थ के विपरीत है, वह प्रशंसा के योग्य अथवा ग्राह्य नहीं है । तर्कशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्रों की शोभा तभी तक है, जब तक धर्म, अर्थ, मोक्ष का उपदेश देने वाला मनु नहीं होता अर्थात् मनु के उपदेशों के समक्ष सभी शास्त्र निस्तेज, प्रभावहीन प्रतीत होते हैं ।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रसिद्ध लेखक-व्याख्याकार हुए हैं जिन्होंने अपने मत के समर्थन में या अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए मनु के वचनों को उद्धृत किया है और इस प्रकार अपने ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है ।

बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने, जो राजा कनिष्क का समकालीन था, जिसका कि समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, अपनी 'वज्रकोपनिषद्' कृति में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है । विश्वरूप ने अपने यजुर्वेदभाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य में मनु के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है । शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्रभाष्य में मनुस्मृति के पर्याप्त उद्धरण दिये हैं ।[१३] ५०० ई. में जैमिनि सूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी ने अपने भाष्य में मनु के अनेक वचनों का उल्लेख किया है । याज्ञवल्क्य स्मृति के एक अन्य भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने याज्ञ. स्मृति के श्लोकों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को पर्याप्त संख्या में उद्धृत किया है[१४] । गौतम, वशिष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, बौधायन आदि सूत्रग्रन्थों में भी मनु का आदर के साथ उल्लेख है ।[१५] आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बहुत-से स्थलों पर मनुस्मृति को आधार बनाया है, और कई स्थलों पर मनु के मतों का उल्लेख किया है ।[१६] इनके अतिरिक्त भी बहुत सारे ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्होंने अपनी प्रामाणिकता और गौरव बढ़ाने के लिए अथवा मनु के मत को मान्य मानकर उद्धृत किया है ।[१७]

अठारहवीं शताब्दी में मनुस्मृति को सर्वाधिक महत्त्व आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने

---

१२. निरुक्त ३।१९ में पुराण शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है — ''पुरा नवं भवतीति' अर्थात् जो पहले नया था, अब नहीं । इस प्रकार पुराण शब्द ब्राह्मण आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों का वाचक है । इसी के आधार पर बाद में ऐतिहासिक ग्रन्थों का 'पुराण' नाम रखा गया । यहां पुराण शब्द से १८ पुराणों का ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

१३. विश्वरूप याज्ञ स्मृ.भाष्य १।४७ ।। वेदा. सू. भाष्य १।३।२८, ३६ ; २।१।१, ११ ; ३।१।१४ ; ३।४।३८ ; ४।२।६ ।।

१४. याज्ञ. स्मृ. १।७, ५३, ६२, ६८, ७२, ७६, ८० ; २।१, २, ५, २१, २६ आदि ।।

१५. गौ. ध. २१।७ ।। वसि. ध. १।१७ ।। आप. ध. २।१४।११ ।। आप. श्रौ. ३।१०।३५ ।। ३।१।७ ।। आश्व. श्रौ. ९।७।२ ; १०।७।१ ।। जै. गृ. १।२४ ।। बौ. ध. ४।१।१४, १६ ।।

१६. कौ. अर्थ. प्र. १।अ. १ ।। प्र. १०।अ. १४ ।।

१७. जैसे कि स्मृतिचन्द्रिका, निर्णयसिन्धु, संस्कारमयूख, श्रीमद्भागवत, दानहेमाद्रि, व्रतहेमाद्रि आदि ।

दिया । उन्होंने केवल मनुस्मृति को ही आर्ष एवं प्रामाणिक धर्मशास्त्र घोषित किया और अपने मन्तव्यों का आधार बनाया । उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है ।

इनके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत सारे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें किसी अन्य ग्रन्थ का वचन उद्धृत है, जिनमें कि मनु के मत का उल्लेख है, या मनु के नाम से कोई मान्यता निर्दिष्ट है । यद्यपि इनमें बहुत से श्लोक ऐसे भी हैं जो न तो वर्तमान मनुस्मृति में मिलते हैं और न अन्य किसी स्मृति में । यह भी संभव है कि अपने पक्ष की पुष्टि के लिए लोगों ने मनु के नाम से स्वयं ही श्लोक रच लिये हों । यहां इस विवाद में न पड़कर केवल इतना कहना ही प्रासंगिक होगा कि इन सब बातों से मनु के एकछत्र प्रभाव का संकेत अवश्य मिलता है ।

प्राचीन काल से मनुस्मृति के अनुकूल आचरण को भी प्रतिष्ठा सूचक माना जाता रहा है । वलभी के राजा धारसेन का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो ५७१ ई. का है । उसमें उस राजा को मनु के धर्मनियमों का पालनकर्त्ता कहकर उसकी विशेषता बतलायी गयी है ।

सभी स्मृति-ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में प्राचीनकाल से लेकर अब तक सर्वाधिक टीकाएं एवं भाष्य मनुस्मृति पर ही लिखे गये हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं । यह भी मनुस्मृति की सर्वोच्चता एवं सर्वाधिक प्रभविष्णता का द्योतक है ।[१८]

आजकल भी पठन-पाठन, अध्ययन-मनन में मनुस्मृति का ही सर्वाधिक प्रचलन है । हिन्दू कोड बिल एवं संविधान का प्रमुख आधार मनुस्मृति को माना जाता है । आजकल भी न्यायालयों में न्याय दिलाने में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है । सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रसंग में मनुस्मृति का उल्लेख अनिवार्यरूप से होता है और इससे मार्गदर्शन भी प्राप्त किया जाता है ।

(ख) विदेशों में मनुस्मृति का प्रभाव

भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी मनुस्मृति का प्रभाव रहा है और इसे महत्त्व मिला है । चम्पाद्वीप के एक शिलालेख में मनु का निम्न श्लोक उद्धृत मिलता है —

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।। (२ । १३६)

बालि, स्याम और जावा के विधान मनुस्मृति से पर्याप्त साम्यता रखते हैं । वर्मा का 'धम्मथट्' मनुस्मृति से ही प्रेरित प्रतीत होता है । नेपाल का विधि-विधान, आचार, मनुस्मृति का ही अनुकरण करता है ।

फिलिपीन द्वीप के नये लोकसभा भवन के सामने उस देश की संस्कृति के निर्माण में आधारभूत योगदान देने वाले चार व्यक्तियों की मूर्तियां उत्कीर्ण की गयी हैं, जिनमें एक महर्षि मनु की है ।

इस प्रकार मनु और मनु के शास्त्र का महत्त्व एवं प्रभाव देश-विदेश में प्राचीन काल से लेकर आजतक अल्पाधिक रूप में सदैव रहा है । उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि स्मृतिग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक प्रामाणिक, प्रभावशाली, लोकप्रिय एवं मान्यताप्राप्त ग्रन्थ है ।

---

१८. मेधातिथि से लेकर अब तक लगभग दस संस्कृत भाष्य उपलब्ध हैं और संक्षिप्त तथा पूर्ण मनुस्मृति पर कुल मिलाकर लगभग तीस हिन्दी टीकाएं उपलब्ध हैं ।

मनुस्मृति अपनी अनेक विशेषताओं के कारण सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर पायी है । किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज ऐसे उत्तम और प्रसिद्ध धर्मशास्त्र का पठन-पाठन क्षीण होता जा रहा है । इसके प्रति लोगों के मन में अश्रद्धा की भावना घर करती जा रही है । इसका कारण है — 'मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार होना' । प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति का उज्ज्वलरूप गन्दा एवं विकृत हो गया है । परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण वर्णनों से मनुस्मृति की गरिमा विलुप्त हो गई है । एक महान् तत्त्वद्रष्टा ऋषि के अनुपम शास्त्र को प्रक्षेपकर्त्ताओं ने विविध प्रक्षेपों से दूषित करके न केवल इस शास्त्र के साथ, अपितु महर्षि मनु के साथ भी अन्याय किया है ।

२. मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता कौन ?

अतिप्राचीन काल से अध्यावधि पर्यन्त भारतीय वाङ्मय, संस्कृति-सभ्यता, धर्म, आचार-व्यवहार, कानून, पठन-पाठन आदि प्रत्येक क्षेत्र पर अपना न्यूनाधिक प्रभाव बनाये रखने वाले मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र जैसे विशिष्ट ग्रन्थ का मूल प्रवक्ता या रचयिता सम्बन्धी प्रश्न आज विवादों शंका-संदेहों के भंवर में फंसा हुआ है, यह आश्चर्य की बात है। यद्यपि इस विवाद के बीज पूर्वकालीन साहित्य में भी पाये जाते हैं, किन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने इसे वृक्ष का रूप दे दिया तथा लेखकों ने अपनी-अपनी ऊहाओं, कल्पनाओं, अटकलों से इसे विवादास्पद बना दिया।

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेप भी इसमें प्रमुख कारण हैं, अत: आज इस बात की अति-आवश्यकता है कि प्रक्षेपों का अनुसन्धान, निर्धारण करके उसके पश्चात् मनुस्मृति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार किया जाये। तभी निर्भ्रान्त निष्कर्ष निकल सकते हैं।[१९] मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता के सम्बन्ध में इस समय चार मत प्रचलित हैं —

१. मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता स्वायम्भुव मनु हैं।
२. मनुस्मृति वैवस्वत मनु द्वारा प्रोक्त या रचित है।
३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त है।
४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त है।

आगे इन सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर सप्रमाण और प्रक्षिप्त श्लोकों की विवेचनापूर्वक विचार किया जाता है।

१. मनुस्मृति के प्रवक्ता — स्वायम्भुव मनु

अधिकांश विचारक इस मत से सहमत हैं कि मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता मनु है और वह भी स्वायम्भुव मनु ही है। मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं। इस सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री के आधार पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है — क. अन्त:साक्ष्य के आधार पर, और ख. बाह्यसाक्ष्य के आधार पर। प्रथम अन्त:साक्ष्य को ही लेते हैं —

क. अन्त:साक्ष्य के आधार पर

अन्त:साक्ष्यों पर विचार करते समय पहले मनुस्मृति की रचनाशैली को समझना आवश्यक है।

१. मनुस्मृति की शैली — मनुस्मृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनुस्मृति की रचनाशैली 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत: प्रवचन है। बाद में मनु के शिष्यों ने उनका संकलन करके उसे एक शास्त्र या ग्रन्थ का रूप दिया है। मनुस्मृति के भूमिकारूप, प्रथम अध्याय के पहले चार श्लोकों के **''मनुम् ..... अभिगम्य महर्षय: ..... वचनमब्रुवन्''** [१।१], **''भगवन् सर्ववर्णानां ..... धर्मान्नो वक्तुमर्हसि''** [१।२] **''त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य ..... कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो''** [१।३] **''प्रत्युवाच ..... महर्षीन्**

---

१९. लेखक ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके अन्त:साक्ष्यसिद्ध सात मानदण्डों के आधार पर [illegible] का निर्धारण किया है। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य है — मनु. का. पु. द्वितीय अध्याय एवं सम्पूर्ण मनुस्मृति में उन-उन श्लोकों पर समीक्षा।

श्रूयताम् इति'' [१।४] आदि वचनों से ज्ञात होता है कि अपने मूलरूप में मनुस्मृति महर्षियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचनरूप में है । ये सभी श्लोक और विशेषरूप से **''स : तै : पृष्ट :''** [१।४] पदप्रयोग यह सिद्ध करता है कि इसे बाद में अन्य व्यक्ति ने संकलित किया है । यह प्रवचनों के रूप में सुना-सुनाया गया है, इसी कारण इसके प्रत्येक प्रसंग के प्रारम्भ या अन्त अथवा दोनों स्थानों पर सुनने-सुनाने वाली क्रियाओं का प्रयोग है, यथा — **'वक्तुमर्हसि'** [१।२], **'श्रूयताम्'** [१।४], **'तत्तथा वोऽभिधास्यामि'** [१।४२], **'एषा समासेन प्रकीर्तिता ... वर्णधर्मान्निबोधत'** [१।१४४ (२।२५)], **'एष प्रोक्त ... कर्मयोगं निबोधत'** [२।४३ (६८)], **'स्त्रीविवाहान्निबोधत'** [३।२०], **'एतद्वोऽभिहितं ... श्रूयतामिति'** [३।२८६], **'एषोदिता'** [४।२५९], **'प्रवक्ष्यामि'** [५।५७], **'व : प्रोक्त : ... शृणुत निर्णयम्'** [५।११०], **'उक्तो व : ... धर्मान्निबोधत'** [५।१४६], **'एष वोऽभिहित : ... राज्ञां धर्मं निबोधत'** [६।९७], **'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि'** [७।१], **'तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि'** [७।३६], **'एष उक्त :'** [८।४०९], **'दायभागं निबोधत'** [९।१०३], **'एषोऽखिल : उक्त :'** [९।३२५], **'एष : कीर्तित : ... परं प्रवक्ष्यामि'** [१०।१३१], **'त्वान्वोऽभ्युपायान् वक्ष्यामि'** [११।२१०], **'एष वोऽभिहित : ... इमं निबोधत'** [११।२२६], **'समासेन वक्ष्यामि'** [१२।३९], **'इदं निबोधत'** [१२।८२] आदि ।

और मौलिक संकलन वही कहाता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत् रूप में संकलन किया गया हो ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्भ से अन्त तक कहने-सुनाने की क्रियाओं में उत्तम पुरुष का प्रयोग है — **'अभिधास्यामि'** [१।४२], **'प्रवक्ष्यामि'** [५।५७], **'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि'** [७।१], **'अहं प्रवक्ष्यामि'** [७।३६], **'परं प्रवक्ष्यामि'** [१०।१३१], **'वक्ष्यामि'** [११।२१०], **'समासेन वक्ष्यामि'** [१२।३९], आदि ।

इस शैली की पुष्टि निरुक्त में वर्णित इस तथ्य से भी होती है कि अत्यन्त प्राचीन काल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा प्रवचनों, उपदेशों के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी । और वह शिष्य-परम्परा के रूप में सुरक्षित रहती थी, लिपिबद्ध ग्रन्थों को पढ़ाकर नहीं । लिपिबद्ध ग्रन्थों के माध्यम से विद्याओं की शिक्षा की परम्परा पर्याप्त समय पश्चात् आयी, जब लोग उपदेशग्रहण करने में आलस्य उदासीनता और उत्साहहीनता प्रदर्शित करने लगे[२०] । महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के समय उपदेशों को लिपिबद्ध करने की परम्परा प्रचलित होने लगी थी ।[२१] इस प्रकार हम कह सकते हैं —

मनुस्मृति की प्रवचन शैली, १।१-४ श्लोकों में वर्णित घटना — जिसमें कि महर्षि लोग केवल मनु के पास धर्मजिज्ञासा लेकर आते हैं और फिर मनु ही उनका उत्तर देते हैं, तथा सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्भ से अन्त तक मनु द्वारा १।४ से प्रारम्भ की गई कहने-सुनाने की क्रियाओं

२०. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु :, तेऽवरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादु : । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च ।'' [निरु. १।१९]

२१. उपदेश मञ्जरी, नवम उपदेश, पृ. ६२ ।

का उत्तम पुरुष एकवचन में प्रयोग, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता मनु ही है ।

यहां प्रसंगवश १।१-४ श्लोकों से सम्बन्धित शंका का समाधान करना भी आवश्यक है । कुछ लोगों का कथन है कि मनुस्मृति की भूमिका रूप ये श्लोक मौलिक श्लोकों के रूप में परिगणित नहीं किये जाने चाहियें क्योंकि ये मनुप्रोक्त नहीं हैं, और न ही इन्हें प्रामाणिक मानना चाहिये ।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि १-४ श्लोक मनुप्रोक्त श्लोकों की भांति मौलिक नहीं है तथापि ये शैली, घटना और प्रश्न के आधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि भूमिका के रूप में इनका उल्लेख है । (१) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के भावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन भृगु या किसी अन्य शिष्य ने किया है । संकलयिता ने इन श्लोकों के द्वारा मनु के पास महर्षियों के आने की घटना और उनके प्रश्न का भूमिका के रूप में उल्लेख किया है । (२) घटना मौलिक है । (३) प्रश्न भी मौलिक है, अत : संकलन-शैली के अनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे । जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है । मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है, इस दृष्टि से ये चारों श्लोक मौलिक संकलितरूप में ही हैं ।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस शैली के आधार पर टीकाकारों ने उन सभी श्लोकों को मौलिक मान लिया है जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन है । ('**महर्षिर्मनुना भृगु :**'. १।६० ।। '**उक्तवान् मनु :** १।११८ ।। '**मनुना परिकीर्तित :**' १।१२६ ।। '**मनुरब्रवीत्**'। ८।३३९ ।। आदि) । उनका कहना है कि मनु के भावों के आधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है, अत : इस प्रकार के श्लोक असंगत नहीं लगते । यह विचार भी भ्रान्तिपूर्ण है । क्योंकि, (१) मनुस्मृति, मनु के भावों को लेकर रचा ग्रन्थ नहीं है, अपितु मनु के भावों का यथावत् उसी शैली में संकलन है । (२) संकलन में मौलिक अंशों के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात नहीं कही जाती, अत : '**मनूक्तवान्**' आदि पद वाले श्लोक संकलयिता की ओर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त है, मौलिक नहीं । (३) १।४ में '**श्रूयताम्**' कहकर मनु उत्तर देना आरम्भ करते हैं । इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा कहे विचारों का उत्तमपुरुष की शैली के माध्यम से जो कथन है वही मौलिक संकलन है, अन्य द्वारा नामोल्लेख पूर्वक प्रदर्शित वर्णन प्रक्षिप्त है । अत : उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए, जो उत्तमपुरुष की शैली में नहीं है ।

२. प्राचीन काल से अद्यावधि पर्यन्त इस ग्रन्थ-का 'मनुस्मृति' या 'मानवधर्मशास्त्र' नाम प्रचलित होना भी इसे मनुप्रोक्त सिद्ध करता है ।

यह मनु स्वायम्भुव मनु ही है । इस बात को मनुस्मृति में स्पष्ट भी किया है और विभिन्न स्थलों पर मनु के साथ स्वायम्भुव विशेषण का प्रयोग भी किया है ।

३. प्रचलित मनुस्मृति में बीच-बीच में लगभग तीस स्थलों पर मनु का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन है । उनमें छह स्थलों पर स्पष्टत : स्वायम्भुव विशेषण का प्रयोग किया है ।[२२] ये उल्लेख भी इसका

---

२२. (क) स्वायंभुव मनु के नामोल्लेख वाले स्थल — १।३२-३६, ५८-६१, १०२ ; ६।५४ ; ८।१२४ ; ९।१५८ ।।
(ख) केवल मनु नामोल्लेख वाले स्थल — १।१-४, ११८, ११९, १२६ ; ३।३६, १५० ; ४।१०३ ; ५।४१ ; ८।१३९, १६८, २०४, २४२, २७९, २९२, ३३९ ; ९।१७, १८२, १८३, २३९ ; १०।६३, ७८ ; १२।१०७, १२६ ।।
१।१-४ को छोड़कर अन्य सभी श्लोक इस अनुसन्धान कार्य के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, तथापि उन्हें एक पारम्परिक जनश्रुति के समान पोषक आधार माना है ।

प्रवक्ता स्वायंभुव मनु को ही सिद्ध करते हैं।

४. निम्न श्लोकों में मनुस्मृति का रचयिता स्वायंभुव मनु को बतलाया गया है —

(क) इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।।
स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।।१ ।५८, ६१ ।।

(ख) स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ।। १ । १०२ ।।

यतोहि भृगु स्वायम्भुव मनु का पुत्र और शिष्य था । [१।३४-३५; ३।१९४; १२।२;], अतः भृगुवचनों में उल्लिखित मनु भी स्वायम्भुव मनु ही है, जिसको शास्त्र का कर्त्ता कहा है —

(ग) यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया॥ १ । ११९ ।।

(घ) एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्॥ १२ । ११७ ।।

(ङ) ''मानवस्यास्य शास्त्रस्य'' १२ । १०७ ।।

(च) ''एतन्मानवं शास्त्रम् भृगुप्रोक्तम्'' १२ । १२६ ।।

यद्यपि इस अनुसन्धानकार्य के आधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, अतः मौलिकवत् प्रामाणिक नहीं है; किन्तु फिर भी इन्हें ऐतिहासिक सन्दर्भ में पारम्परिक जनश्रुति के समान पोषक आधार के रूप में ग्रहण किया है।

५. ऐतिहासिक, ब्रह्मावर्त प्रदेश में स्थित बर्हिष्मती नगरी को स्वायम्भुव मनु की राजधानी मानते हैं। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त प्रदेश को धर्मशिक्षा, सदाचार का केन्द्र घोषित करके सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है [१।१३६-१३९ (२।१७-२०] । इसी क्षेत्र में मनुस्मृति का प्रवचन-प्रणयन हुआ था। इससे भी मनुस्मृति का रचयिता स्वायम्भुव मनु होने का संकेत मिलता है।

(ख) बाह्यसाक्ष्य के आधार पर —

मनुस्मृति के अन्तर्गत प्राप्त पूर्वोक्त प्रमाणों, संकेतों के अतिरिक्त भी इस बात के बहुत से आधार मिलते हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता स्वायंभुव मनु है। यथा —

१. तैत्तिरीय आदि संहिताओं,[२३] ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर अर्वाक्कालीन भारतीय वाङ्मय में स्वायंभुव मनु ही एक धर्मशास्त्रकार या स्मृतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः कहा जा सकता है कि मनु के नाम से प्राप्त होने वाले धर्मशास्त्र का रचयिता भी यही मनु है।

२. निरुक्त[२४] में, दायभाग के प्रसंग में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करके स्वायंभुव मनु के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'दायभाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता है'। मनु के नाम से प्राप्त यह मत वर्तमान मनुस्मृति में ९।१३०, १९२ श्लोकों में निर्दिष्ट है। यह प्राचीन उल्लेख भी मनुस्मृति को स्वायंभुव मनुकृत सिद्ध करता है।

---

२३. (क) तैत्ति. सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४ ।। तां. ब्रा. २३।१६।७ ।।
(ख) मनु ने ब्राह्मणवाक्यों का भी प्रवचन किया था, इसके भी प्रमाण संहिताओं में मिलते है — ''आपो वा इदं मिरसृजन् । स मनुरेवोदशिष्यत । स एतामिष्टिमश्यत्तामाहरत् यामपश्यत . . . । काठ. सं. ११।२ ।। द्र. तैत्ति. सं. ३।१।९।३० भी ।

२४. निरु. ३।४ ।। अर्थसहित श्लोक द्रष्टव्य 'मनुकाल' शीर्षक में ।

२५. ''अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः . . . मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत ।। (आदि. ७३।८-९) ये वर्तमान मनुस्मृति में ३।२०-३४ तक वर्णित हैं ।

३. महाभारत में, कई स्थलों पर स्वायंभुव मनु को एक धर्मशास्त्रकार के रूप में उद्धृत किया है और कुछ स्थलों पर उसके नामोल्लेख के साथ उसके मत और श्लोकों को भी उद्धृत किया है । वे सभी मत और श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में पाये जाते हैं । यथा —

(क) दुष्यन्त-शकुन्तला प्रेम-प्रसंग में आठ-विवाहों का विधानकर्त्ता स्वायंभुव मनु को बताया है ।[२५]

(ख) शान्ति. ३६ अध्याय में, मनु. १।१-४ श्लोकों की घटना का यथावत् वर्णन करते हुए बताया है कि ऋषिलोग धर्मजिज्ञासा के लिए स्वायंभुव मनु के पास पहुंचे । वहां मनुद्वारा दिये गये उत्तर में कुछ श्लोक ऐसे प्राप्त होते हैं जो वर्तमान मनुस्मृति में भी हैं, उनमें कोई-कोई तो यथावत् है, कोई किंचित् पाठान्तर से है, तो कोई यथावत् भाव वाला है ।[२६]

(ग) शान्ति ६७।१५-३० में, आदिकाल में लूटपाट, अराजकता आदि से तंग हुई प्रजा द्वारा मनु को राजा के रूप में वरण करने की घटना दी हुई है । यह मनु ब्रह्मा का पुत्र है, अत : यह भी स्वायंभुव मनु की घटना है ।[२७] मनु को राजा बनाने के बाद प्रजा द्वारा जो करनिर्धारण किया गया है, यथा — 'पशु और सुवर्ण का पचासवां भाग कर देंगे', यह करव्यवस्था वर्तमान मनुस्मृति ७।१३० में मिलती है ।[२८]

(घ) शान्ति. ३३५।४४, ४६ में एक धर्मशास्त्रकार के रूप में स्वायम्भुव मनु का ही वर्णन है ।[२९]

४. इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक स्थलों पर केवल मनु नाम देकर उसके श्लोक या भाव उद्धृत किये हैं । उनमें से बहुत-से श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में यथावत् मिलते हैं और भाव तथा उनका गठन भी यथावत् है ।[३०]

५. इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में राम बालि-सुग्रीव युद्ध के अवसर पर अपने द्वारा किये बालि के वध को धर्मानुकूल ठहराते हुए मनु का नाम लेकर उसके दो श्लोक उद्धृत करते हैं । वे श्लोक भी वर्तमान मनुस्मृति में हैं ।[३१] इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति मनुप्रोक्त है ।

६. विश्वरूप ने याज्ञ स्मृति २।७३, ७४, ८३, ८५ पर भाष्य करते हुए वर्तमान मनुस्मृति के ८।६८, ७०-७१, १०५, १०६, ३०४ श्लोकों को उद्धृत किया है । वहां मनु का नाम स्वायंभुव दिया गया है ।

७. विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति के 'मिताक्षरा' भाष्य में, शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य में, शबरस्वामी ने जैमिनी सूत्रों के भाष्य में, बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने अपनी कृति 'वज्रकोपनिषद्' में,

---

२६. (क) ''तैरेवमुक्तो भगवान् मनु : स्वायंभुवोऽब्रवीत्'' । महा. शान्ति. ३६।५ ।।
(ख) यथावत् श्लोक-महा. शान्ति. में ३६।३५, ४६, ४७ ; मनुस्मृति में क्रमश ; ३।११७ ; २।१३२ ; २।१३३ ।। यथावत् भाव — महा. शान्ति में ३६।२० ; में १२।१०८-१०९ ।। पाठान्तरपूर्वक — महा. शान्ति. में ३६।२७, २८ ; मनु. में ४।२१८, २१७, २२० ।। भावग्रहण अन्य श्लोकों में भी है ।

२७. महा. आदि. १।३२ ।।

२८. ''पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशु-हिरण्ययो : ।'' ७।१३० ।।

२९. (क) ''मनु : स्वायंभुवोऽब्रवीत'' आदि. ७३।८-९ ।। (ख) तैरेवमुक्तो भगवान् मनु : स्वायंभुवोऽब्रवीत् शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासत : ।। शान्ति. ३६।६ ।। (ग) शान्ति १२ अ. ।। (घ) स्वायंभुव मनु द्वारा शास्त्ररचना, शान्ति. ३३५।४४, ४६ ।। आदि ।

३०. ''मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना'' शान्ति. ५६।३३ ।। अन्यत्र-शान्ति. १२ अ. ; ११८।२६ ; १२१।१०, १२ ।।

३१. वा. रामा. किष्कि. १८।३१-३२ ; मनु. में ८।३१६, ३१८ ।।

कवि भास ने 'प्रतिमा नाटक' में, गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब आदि ने अपने सूत्रग्रन्थों में,[३२] वलभी के राजा धारसेन के शिलालेख में,[३३] धर्मप्रसंग में जो मनु का निर्देश किया है तथा अपनी पुष्टि के लिए जो श्लोक उद्धृत किये हैं, वे मनु के ही हैं और वर्तमान मनुस्मृति में प्राप्त हैं। इनसे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इसका मूलरचयिता मनु ही है, भृगु आदि कोई अन्य व्यक्ति नहीं। यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि मनु के नाम से उल्लिखित धर्मशास्त्रकार स्वायंभुव मनु ही प्रसिद्ध है।

पक्षान्तरों का विवेचन

२. मनुस्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त—

कुछ आलोचक मनुस्मृति को मनुप्रोक्त तो मानते हैं, किन्तु उस मनु को स्वायंभुव न मानकर वैवस्वत मानते हैं। ऐसा मानने के उनके कुछ निम्न आधार हैं—

१. मनुस्मृति के १।६१-६२ श्लोकों में स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन करते हुए सातवें वैवस्वत मनु तक का उल्लेख है। पहले मनु के काल में सातवें मनु का उल्लेख नहीं हो सकता, अतः यह सातवें वैवस्वत मनु की ही रचना है। ऐसा विद्वानों का विचार है।

२. कौटिल्य अर्थशास्त्र प्र. ८।अ. १२ में, आदिकाल में प्रजाओं द्वारा वैवस्वत मनु को राजा बनाने की घटना है। वहां जो कर व्यवस्था दी है[३४] वह प्रचलित मनुस्मृति ७।१३०-१३२ से मिलती-जुलती है, अतः यह स्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त है।

इन आधारों पर अनुशीलन करने पर इन पर आधारित यह मान्यता स्वयं अमान्य प्रतीत होती है। आइये, इन पर विचार करें।

१. मनुस्मृति के जिन श्लोकों में वैवस्वत मनु का उल्लेख है, वे निम्न हैं—

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौजसः॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥ १।६१-६२॥

अर्थात्—इस स्वायंभुव मनु के वंश में महात्मा और महान् तेजस्वी अन्य छह मनु और हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने काल में अपनी प्रजाओं की सृष्टि की थी। वे हैं— स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और विवस्वत् का पुत्र वैवस्वत।

मनुस्मृति में ये दोनों ही श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। इनकी प्रक्षिप्तता के कई कारण हैं— १. यह कहना चाहिये कि स्वायंभुव मनु पहले ही अपने वंश की भावी छह पीढ़ियों का वर्णन नहीं कर सकते। पूर्व १।५८-६० श्लोकों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि स्वायंभुव का शिष्य भृगु यह बात कह रहा है। वह भावी छह पीढ़ियों और उनके कार्यों का भूतकाल में वर्णन कैसे कर सकता है? इस प्रकार ये श्लोक परवर्ती प्रक्षेप हैं और कालविरुद्ध वर्णन हैं। २. इनका पूर्वापर प्रसंग से भी विरोध है। पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन चल रहा है। बीच के इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है। ३. मनुओं के द्वारा चराचर सृष्टि का उत्पादन और पालन सृष्टिक्रमविरुद्ध वर्णन है। यह मनु की

३२. उद्धरणस्थल द्रष्टव्य 'मनुस्मृति महत्ता' शीर्षक की टिप्पणियों में।
३३. ५७१ ई. का शिलालेख।
३४. उद्धरण द्रष्टव्य 'मनुस्मृति का काल' शीर्षक के अन्तर्गत।

१।६, १४-२३ श्लोकों में वर्णित मान्यता के विरुद्ध भी है । ४. इस प्रसंग में भृगु द्वारा मनुस्मृति के प्रवचन का कथन भी असंगत है, क्योंकि इसकी शैली से यह मनुप्रोक्त ही सिद्ध होती है ।[३५] इस प्रकार इन प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर इसे वैवस्वत मनुप्रोक्त नहीं कहा जा सकता ।

२. कौटिल्य अर्थशास्त्र में जो घटना वैवस्वत मनु के नाम से दी गयी है, वह महाभारत शान्ति. ६७।१५-३० में स्वायंभुव मनु के प्रसंग में दी हुई है । कहा नहीं जा सकता कि कौटिल्य अर्थशास्त्रकार ने यह नामान्तर क्यों ग्रहण किया । यह किसी पाठभेद के कारण भी हो सकता है, अथवा यह भी संभव है कि स्वायंभुव मनु की वंश-परम्परा में उत्पन्न होने के कारण वैवस्वत मनु ने इन व्यवस्थाओं को यथावत् और रुचिपूर्वक लागू किया हो, जिससे वे उसके नाम से प्रसिद्ध हो गयी हों । वैसे कुछ वंशावलियों को देखकर और दोनों मनुओं का प्रथम राजा के रूप में वर्णन देखकर कई बार, अन्वेषकों को दोनों की एकता का आभास होने लगता है । ये एकरूपवर्णन भी भ्रान्ति पैदा कर देते हैं । इतिहासानुसंधाताओं ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि स्वायम्भुव मनु सृष्टि के प्रथम राजा थे और वैवस्वत मनु प्रलयोत्तरकालीन समाज के प्रथम राजा हुए हैं ।

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी युक्तियां भी हैं, जिनका इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है और उनसे इसी मान्यता को बल मिलता है कि मनुस्मृति के प्रवक्ता मनु वैवस्वत नहीं अपितु स्वायम्भुव हैं, यथा —

३. मनुस्मृति में ऐसा कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं मिलता जिसमें वैवस्वत मनु की शास्त्रप्रवक्ता के रूप में चर्चा हो । उपर्युक्त स्थल को छोड़कर अन्यत्र कहीं वैवस्वत का नाम भी नहीं है । उस स्थल पर भी केवल वंशावली है, मनुस्मृति के प्रवचन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया है ।

४. मनुस्मृति में मनु के साथ भृगु का उल्लेख मिलता है । यह भृगु भी स्वायंभुव मनु का शिष्य था, वैवस्वत मनु का नहीं ।

५. यद्यपि भारतीय साहित्य में दोनों मनु प्रथम राजा के रूप में वर्णित हैं, किन्तु स्वायंभुव मनु की अधिक ख्याति धर्मशास्त्रकार के रूप में है, जबकि वैवस्वत की एक राजा के रूप में ।[३६] वैवस्वत का धर्मशास्त्रकार के रूप में उल्लेख नहीं के बराबर है ।

६. वाल्मीकि रामायण में वैवस्वत मनु को सूर्यवंश का प्रथम राजा कहा है । उसी ने अयोध्या की स्थापना की ।[३७] मनुस्मृति में अयोध्या का, तत्कालीन प्रदेश या भौगोलिक स्थिति का कहीं कोई वर्णन नहीं है, जबकि इसके विपरीत स्वायंभुव के प्रदेश ब्रह्मावर्त का सर्वोच्च महत्त्व प्रदर्शित है ।[३८]

७. मनुस्मृति में स्वायंभुव के परवर्ती मनुओं की अथवा वैवस्वत से पूर्व के मनुओं की किसी प्रकार की कोई चर्चा का न होना भी इसे स्वायंभुवकालीन सिद्ध करता है । एक स्थान पर केवल मनु के राज्य का उल्लेख है और वह प्रक्षिप्त है ।[३९] शैली के आधार पर वह वैवस्वत के भी बहुत परवर्ती काल का प्रक्षेप सिद्ध होता है । यतोहि, वहां राजा पृथु का भी उल्लेख है, जो वैवस्वत मनु से सातवीं पीढ़ी में हुआ है ।[४०]

---

३५. शैली पर विस्तृत विवेचन 'मनु का रचयिता स्वायंभुव मनु' शीर्षकान्तर्गत द्रष्टव्य है ।

३६. "मनुर्वैवस्वतो राजा-इत्याह । तस्य मनुष्या विशः ।" [शत. १३।४।३।३]

३७. बाल. ७०।२० में वंशपरिचय में प्रथम प्रजापालक कहा है । बाल. ५।६ में कहा है कि मनु ने ही अयोध्या को बसाया — "अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता । मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ।"

३८. मनु. २।१७-२० ।।

३९. "पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च ।" ७।४२ ।।

४०. वा. रामा. बाल. ७०।२४ ।।

८. १।७९-८० में मन्वन्तर कालपरिमाण का वर्णन है। यदि मनुस्मृति वैवस्वत मन्वनतर काल की होती तो वहां पूर्व मन्वन्तरों के व्यतीतकाल और नामों का उल्लेख अवश्य मिलता। केवल मन्वन्तर का वर्णन होना इस बात का द्योतक है कि यह प्रारम्भिक मन्वन्तर काल की कृति है, जबकि मन्वन्तर केवल एक कालपरिमाण रूप में प्रचलित हुआ। मनुओं के व्यक्तिगत नामों पर इनका नामकरण बाद में निर्धारित हुआ।

९. मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित वंशावलियां भी मनुस्मृति का सम्बन्ध स्वायंभुव से सिद्ध करती हैं। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर मनु का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मा से प्रदर्शित किया है। ब्रह्मा को विशेष महत्त्व भी दिया गया है, जैसे ब्रह्मावर्त आदि। वैवस्वत मनु का ब्रह्मा से सीधा सम्बन्ध न कुलवंश से है और न विद्यावंश से,[४१] जबकि स्वायंभुव मनु का है। उसका नाम स्वायंभुव भी स्वयंभू अर्थात् ब्रह्मा का पुत्र या शिष्य होने से 'स्वायंभुव' है। मनुस्मृति में ब्रह्मा से सीधे सम्बन्ध की प्रवृत्ति और उसे महत्त्व प्रदान करने की भावना भी इसे स्वयंभूकृत सिद्ध करती है।

३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त —

मनुस्मृति को भृगुप्रोक्त मानने वालों के लिए आधारभूत सामग्री मनुस्मृति में ही प्राप्त है। परवर्ती ग्रन्थों में भी उसी को आधार बनाकर यह मान्यता प्रदर्शित की गई है। अत: यहां पहले उन्हीं श्लोकों की विवेचना की जानी आवश्यक है, जिनमें इसे भृगुप्रोक्त कहा गया है।

१. पूर्वोक्त विवेचन में मनुस्मृति की शैली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उससे यह निष्कर्ष सामने आया है कि इसकी प्रवचन शैली से मनु ही इसके आदि-प्रवक्ता सिद्ध होते हैं। १।१-४ श्लोकों में वर्णित है कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषि मानने के कारण ही ऋषि लोग मनु के पास आते हैं और धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा करते हैं। जिज्ञासा मनु से की है तो मनु ही उसका उत्तर देते हैं, और यह भी कि वही इस विषय के अपने समय के विशिष्ट विद्वान् हैं। वह उत्तर १।४-५ से प्रारम्भ होकर अन्त तक इसी शैली में चलता है। इस प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ऋषियों के प्रश्न का उत्तर दिया जाना न तो शैलीसंगत है और न व्यावहारिक। बीच-बीच में बहुत-से श्लोकों में भृगु द्वारा प्रवचन करने का उल्लेख है। यह बड़ी अटपटी, अव्यावहारिक और अप्रासंगिक बात है कि ऋषिगण विशिष्ट विद्वान् होने के नाते आये तो मनु के पास हैं, प्रश्न भी उन्हीं से करते हैं और तदनुसार प्रारम्भ में उत्तर भी मनु ही देते हैं। किन्तु पुन: भृगु उत्तर देना शुरू कर देते हैं; जबकि अन्त तक शैली वही १।४ से आरम्भ मनु द्वारा उत्तर देने वाली चलती रहती है।

वस्तुत: मनुस्मृति में भृगु से सम्बन्धित सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। भृगु के शिष्यों ने भृगु को महत्त्व प्रदान करने और मनु से जोड़ने के लिए उनका प्रक्षेप किया है। मनुस्मृति की शैली से, उनके अटपटे वर्णन से, उनकी अव्यावहारिकता से और अप्रासंगिकता से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये श्लोक मनुस्मृति में परवर्तीकाल में बलात् डाले गये हैं। किसी भी स्थल पर मनुस्मृति के प्रसंगों से पूर्वापर रूप में उनका तालमेल न होना और विरुद्ध वर्णन होना भी उन्हें बलात् किया गया प्रक्षेप सिद्ध करता है। आगे उनकी प्रक्षिप्तता पर विचार किया जा रहा है।

क. एतद् वोऽयं भृगु: शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत:।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनि:॥

---

४१. द्रष्टव्य वा. रामा. ३, अर. १४।११-३२ में प्रदर्शित वंशावली। ब्रह्मा से मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप से विवस्वान, विवस्वान से मनु वैवस्वत हुआ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीत् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। १।५९-६० ।।

अर्थात् — यह भृगु मुनि इस मनुस्मृति शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से आप लोगों को सुनायेगा, क्योंकि इसने इस सम्पूर्ण शास्त्र को भलीभांति मुझ मनु से सीखा है । महर्षि मनु के इस प्रकार कहने पर वह महर्षि भृगु जिज्ञासा की दृष्टि से आये उन सब ऋषियों को प्रसन्नचित्त होकर 'सुनिये' ऐसा बोले ।

प्रक्षिप्तता विवेचन —

उपर्युक्त शैलीगत आधार के अतिरिक्त ये श्लोक इन आधारों पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं — १. **प्रसंगविरोध** — पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन है । इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है । मनु सृष्ट्युत्पत्ति विषयक जानकारी दे रहे हैं । यह प्रकरण १।१४४ (२।२५) में पूरा होगा । एक प्रचलित प्रकरण के पूर्ण हुए बिना, बिना ही प्रसंग के इस शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन क्रम बतलाकर भृगु द्वारा शास्त्र सुनाने की बात कहना, विसंगतिपूर्ण, अटपटा एवं बलात् डाला गया प्रक्षेप है । २. **अन्तर्विरोध** — १।५८ और १।६१-६३ श्लोक भी प्रसंग की दृष्टि से इन श्लोकों से सम्बद्ध है। उनमें १।६, १४-२३ में वर्णित सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम के विरुद्ध वर्णन है । मनुओं से चराचर सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती । ३. मनुस्मृति मूलतः प्रवचन होने से उनके लिए मूल संकलन में 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार नहीं बनता । यहां 'शास्त्र' पाठ इन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है । (इससे सम्बधित विवेचन इसी अध्याय में 'स्वायम्भुव मनु' शीर्षकान्तर्गत १।६१-६२, ब्रह्मा शीर्षकान्तर्गत १।५८ श्लोक पर तथा विस्तृत समीक्षा भाष्य में यथास्थान देखिए) ।

ख. यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्यथा ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ।। १।११९ ।।

अर्थ — महर्षियों से भृगु मुनि कहते हैं — जैसे पहले मेरे पूछने पर महर्षि मनु ने मुझे इस शास्त्र का उपदेश किया था, वैसे ही आज आप लोग भी मुझसे सुनो ।

प्रक्षिप्तता विवेचन — १. प्रसंगविरोध — पूर्वापर १।११० और १।१२०(२।१) श्लोकों में धर्म के स्वरूप के विवेचन का प्रसंग है । उस प्रसंग के मध्य बिना ही प्रसंग के 'मनु से शास्त्र सुनने और स्वयं सुनाने' की बात कहना असंगत है । इससे पूर्वापर प्रसंग भंग हो गया है । २. **शैली** की दृष्टि से यह भृगु से भी भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा रचित है । फिर मनु का तो किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकता । (विस्तृत विवेचन भाष्य में द्रष्टव्य है) ।

<u>ग.</u> ५।१-४ श्लोकों में महर्षि लोग भृगु से प्रश्न करते हैं कि अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी विद्वानों को मृत्यु क्यों प्रभावित कर लेती है । भृगु उन्हें उत्तर देते हैं कि वेदों के अनभ्यास, सदाचारत्याग, आलस्य और अन्नदोष के कारण विद्वानों को मृत्यु मारती है ।

प्रक्षिप्तता विवेचन — १. शैली की दृष्टि से ये श्लोक भृगु से भी परवर्ती किसी अन्य व्यक्ति की रचना हैं । स्मृति के प्रारम्भ में प्रश्न मनु से किया था । मनु के पास ही ऋषि आये थे । भृगु से पुनः प्रश्न और उसके द्वारा उत्तर मनुस्मृति की शैली के अनुरूप नहीं है । २. **प्रसंगविरोध** — अग्रिम प्रसंग भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का है, जबकि इन श्लोकों में मृत्यु का कारण पूछा और बताया जा रहा है । यहां प्रश्न और उत्तर की असंगति इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध करती है । (विस्तृत विवेचन भाष्य में द्रष्टव्य है) ।

घ. चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वत: पराम् ।।
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगु: ।
अस्य सर्वस्य श्रृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ।। १२।१-२ ।।

प्रक्षिप्तता विवेचन — २. **प्रसंगविरोध** — इससे पूर्व ११।२६६ श्लोक में मौलिक शैली से पूर्वविषय की समाप्ति और अग्रिम कर्मविधि विषय के प्रारम्भका संकेत है । उसके बाद पुन: प्रश्नोत्तर करना असंगत भी है और मनु की शैली के विपरीत भी । २. ये भी भृगु से परवर्ती व्यक्ति की रचना है ।

ङ· इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विज: ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम् ।। १२।१३६ ।।

अर्थ — इस भृगु द्वारा प्रोक्त मानवशास्त्र को पढ़ने वाला द्विज सदा आचारवान् रहता है और इच्छित गति को प्राप्त करता है ।

प्रक्षिप्तता विवेचन। —१. इस श्लोक में मनुस्मृति के लिए किया गया 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार इसे परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है (द्रष्टव्य इसी अध्याय में ब्रह्मा शीर्षकान्तर्गत १।५८ पर विवेचन) । २. यह श्लोक भी इसे भृगु से परवर्ती व्यक्ति द्वारा रचित सिद्ध करता है । ३. यद्यपि इसमें इस स्मृति को मनुरचित कहा है,फिर भी भृगु का नाम महत्त्वप्राप्ति की इच्छा से जोड़ दिया है । ४. इस प्रकार का उपसंहार मनु की शैली के अनुरूप नहीं है । वे केवल प्रस्तुत विषय का फल प्रदर्शित करते हैं (१२।१२५ में) ।

इस प्रकार भृगु के नाम के उल्लेख वाले सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । यह कहना चाहिए कि इस प्रकार तो ये श्लोक भृगुरचित भी नहीं अपितु किसी परवर्ती व्यक्ति ने रचकर मिलाये हैं । इस आधार पर यदि भृगुकृत मानें तो फिर यह भृगु से भी बाद के किसी व्यक्ति की रचना माननी पड़ेगी ।

२. यहां कुछ लोग यह शंका उठा सकते हैं कि जैसे मनु के नामोल्लेख वाले श्लोकों को पारम्परिक जनश्रुति के समान आधार मानकर इसका कर्ता स्वायंभुव मनु माना है, ऐसे ही भृगु के श्लोकों को भी आधार क्यों न माना जाये ?

इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि भृगु नामोल्लेख वाले श्लोकों का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही नहीं जुड़ता । वे सभी बलात् डाले हुए लगते हैं । इसके मूल में भृगु के शिष्यों की शायद यह भावना रही है कि उसे मनु के प्रसिद्ध शास्त्र से जोड़कर कम-से-कम प्रवचनकर्त्ता के रूप में तो महत्त्व मिल जाये । यद्यपि यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि भृगु ने मनुस्मृति का प्रवचन किया होगा । लेकिन उसके प्रवचन के आधार पर, उसके पश्चात् मनुस्मृति का संकलन हुआ, यह कथन बिल्कुल निराधार है । हो सकता है, प्रवचनों का आद्य संकलन भी भृगु ने किया हो, क्योंकि वह मनु के समकालीन था । किन्तु मौलिक संकलन में भृगु के नाम की कोई गुंजायश नहीं बनती ।

३. प्रतीत होता है कि भृगु की अपनी कोई पृथक संहिता रही है, जो आज उपलब्ध नहीं है । महाभारत शान्ति, ५७।४१ में निम्न श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत है —

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ।।

यह श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में नहीं है । इसी प्रकार विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृतिभाष्य १।१८७, २५२ में जो श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत किये हैं, वे भी मनुस्मृति में नहीं हैं । अपरार्क ने भृगु के नाम से निम्न श्लोक दिया है जिसमें मनु का नाम है —

येषु पापेषु दिव्यानि प्रतिशुद्धानि यत्नतः ।
कारयेत् सज्जनैस्तानि नाभिशस्तं त्यजेन् मनुः ।।
(याज्ञवल्क्यस्मृति २।९६) ।।

४. यदि वर्तमान मनुस्मृति भृगु संहिता होती तो इसका प्रारम्भ मनु के पास आने की घटना से न होकर भृगु के पास आने की घटना से अथवा उनसे की गई जिज्ञासा से होता, जैसा कि नारद, अग्नि, विष्णु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि की स्मृतियों में है ।[४२] मनुस्मृति का मनु की घटना से प्रारम्भ भी यह संकेत देता है कि यह भृगुसंहिता या भृगु की रचना नहीं, मनु की है । ऐसा उदाहरण अन्य किसी स्मृति में नहीं पाया जाता, जैसा मनुस्मृति में भृगु को जोड़कर प्रस्तुत किया है ।

५. कई ग्रन्थों में भविष्यपुराण का एक श्लोक उद्धृत मिलता है, जो इस बात का विवरण देता है कि स्वायम्भुव शास्त्र अर्थात् मनुस्मृति के आधार पर चार संहिताओं का निर्माण हुआ था — १. भृगुसंहिता, २. नारदसंहिता, ३. बृहस्पति संहिता, ४. आंगिरस संहिता ।[४३] इनमें अन्तिम तीन उपलब्ध हैं, भृगुसंहिता उपलब्ध नहीं है । इन तीनों का प्रारम्भ भी उन-उन प्रणेताओं के नामों से है, यही शैली भृगुसंहिता की रही होगी । स्पष्ट है कि मनुस्मृति से भिन्न कोई भृगुसंहिता रही है ।

इन प्रमाणों और संकेतों से यह स्पष्ट हुआ कि प्रचलित मनुस्मृति भृगुप्रोक्त नहीं है । भृगु मनु का पुत्र और शिष्य था । मनु की विद्यापरम्परा से भी सम्बधित रहा है । प्रतीत होता है कि भृगुसंहिता का प्रचलन नहीं हो पाया तो भृगुपरम्परा के शिष्यों ने अपनी परम्परा की प्रसिद्ध स्मृति मनुस्मृति में भृगु के नाम का समावेश कर दिया । उसे भृगु के प्रवचन का रूप दे दिया । परिणामतः भृगुसंहिता विलुप्त हो गयी ।

४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त —

एक मान्यता यह भी है कि वर्तमान मनुस्मृति मूलतः ब्रह्माप्रोक्त है । यद्यपि इस मान्यता को मानने वाले विचारकों की संख्या कम है । इसका स्रोत भी मनुस्मृति ही है । इसलिए यहां उस स्रोत-रूप श्लोक पर ही विचार करना चाहिए ।

मनुस्मृति में केवल एक स्थान पर यह उल्लेख आता है । स्वायंभुव मनु कहते हैं — 'इस ब्रह्मा ने इस मनुस्मृति शास्त्र को रचकर सबसे पहले मुझ मनु को ही विधिपूर्वक पढ़ाया, और फिर मैंने मरीचि आदि दश मुनियों को ग्रहण कराया ।' श्लोक है —

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।। १।५८ ।।

---

४२. अत्रि स्मृति का प्रारम्भ — ''हुताग्निहोत्रमासीनमत्रिं वेदविदां वरम्-इदं वचनमब्रुवन्'
विष्णु स्मृति में — ''विष्णुमेकाग्रमासीनं . . . पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे ।।''
याज्ञ. स्मृति में — ''योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।।
बृहस्पति स्मृति में — ''राजा . . . भगवन्तं गुरुं श्रेष्ठं पर्यपृच्छद् बृहस्पतिम् ।।'

४३. हेमाद्रि तथा संस्कारमयूख आदि ग्रन्थों में भविष्य पुराण का यह श्लोक मिलता है —
भार्गवीया नारदीया च बार्हस्पत्यांगिरस्यपि ।
स्वायंभुवस्य शास्त्रस्य चतस्रः संहिताः मताः ।।

मनुस्मृति के प्रसंग में यह श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । इसकी प्रक्षिप्तता पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना भी प्रासंगिक होगा कि भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा को आदिगुरु माना जाता है । इस कारण प्रत्येक विद्यावंश उसी से प्रारम्भ होता है । यदि ब्रह्मा से मनु ने इस विषय की शिक्षा प्राप्त की हो तो इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं । किन्तु यह कहना आपत्तिजनक है कि इस शास्त्र को ब्रह्मा ने रचा, फिर उसे ही मनु को दिया, और मनु ने अन्य ऋषियों को । यह कथन मनुस्मृतिसम्मत नहीं है ।

इस विवेचन को पढ़ते हुए आपने देखा कि मनुस्मृति में मनुस्मृति के प्रणेता के सम्बन्ध में तीन विरोधी मान्यताएं यत्र-तत्र उल्लिखित हैं । कहीं मनु को, कहीं भृगु को, तो कहीं ब्रह्मा को इसका प्रवक्ता कहा है । यह निश्चित है कि इसका रचयिता है एक ही । स्पष्ट है कि प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही यह विवाद उभरा है । अत : अब इस श्लोक की प्रक्षिप्तता पर और उसके सन्दर्भ में इस पक्ष पर विचार किया जाता है । वस्तुत : मनुस्मृति को अधिक मान्यता, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि दिलाने की भावना से मनुस्मृति-परम्परा के व्यक्तियों ने इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ने का प्रयास किया है और इसी प्रवृत्ति के कारण इस श्लोक का प्रक्षेप किया गया है ।

यह श्लोक अनेक आधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है — १. **प्रसंगविरोध** —(क) इस श्लोक में ब्रह्मा शब्द का उल्लेख नहीं है । टीकाकारों ने पूर्व श्लोकों से इस पद की अनुवृत्ति ग्रहण की है । पूर्व श्लोकों में १।५०-५१ को छोड़कर कहीं भी ब्रह्मा का वर्णन नहीं अपितु सृष्टिकर्ता ब्रह्म का है । १।५०-५१ श्लोक प्रक्षिप्त हैं । वहां से अनुवृत्ति भी ग्रहण नहीं की जा सकती क्योंकि उसके बाद ब्रह्म के वर्णन वाले कई श्लोक आ गये हैं । (ख) यहां यह श्लोक असंगत भी है, यतोहि पूर्वापर १।५७, १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल परिमाण का प्रसंग है । उस प्रसंग को भंग करके बिना ही किसी चर्चा के यह कथन नितान्त अनावश्यक एवं अप्रासंगिक है ।

२. **अन्तर्विरोध** — यह श्लोक अगले १।५९-६३ श्लोकों से सम्बद्ध हैं, अत : इन सभी श्लोकों का यह एक ही प्रसंग है । इन श्लोकों में मनुओं से चराचर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, जो सृष्टिक्रमविरुद्ध एवं मनु की पूर्ववर्णित मान्यता १।६, १४-२३ के विरुद्ध है ।

इस श्लोक में ब्रह्मा को इस शास्त्र का कर्त्ता कहने के कारण मनुस्मृति में पूर्वोक्त मनु, भृगु वाली मान्यताओं से विरोध आ गया है । इस श्लोक से उत्पन्न विरोध को दूर करने के लिये टीकाकारों ने पर्याप्त प्रयास किया है किन्तु उन का वह प्रयास 'तथाकथित' ही रहा । उनका कहना है कि इसके मूल प्रवक्ता ब्रह्मा हैं तथापि इसे मनुकृत इसलिए कहा जाता है कि — (अ) मनु को ब्रह्मा ने शास्त्राशय रूप विधिनिषेध का अध्यापन कराया और मनु ने उसका प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ इस रूप में बनाया । (आ) दूसरे मत के अनुसार — इस ग्रन्थ के रचयिता ब्रह्मा ही हैं, तथापि मनु ने इसका ज्ञान प्राप्त कर स्वरूप तथा अर्थ के साथ इसे मरीचि आदि के लिए प्रकाशित किया । अत : यह मानवशास्त्र कहलाया । ये दोनों ही समाधान निराधार एवं अयुक्तियुक्त हैं । इसके विश्लेषण के लिए १।१-४ श्लोकों पर गहन दृष्टिपात करना होगा । इन श्लोकों के भाव और भाषा पर ध्यान देने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं —

(क) मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं अपितु मूलरूप में, जिज्ञासा का प्रवचन के रूप में दिया गया उत्तर है, जिसका बाद में संकलन हुआ है । महर्षि लोग मनु के पास आकर धर्मों को क्रमश : जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं । [१।१-२] और मनु उसका उत्तर देते हैं [१।४] ।

(ख) इसके मूल प्रवक्ता भी मनु ही हैं । यही कारण है कि मनु अपने ज्ञान के अनुसार सीधे वेद से विज्ञात बातों का ही मनुस्मृति में दिग्दर्शन कराते हैं [१।२३-२४, ८७, १२५, १२९] । यदि यह ज्ञान ब्रह्मा की परम्परा से प्राप्त होता या ब्रह्मा द्वारा प्राप्त होना इसकी विशेषता मानी जाती तो ऋषि लोगों को यहां मनु के लिये 'वेदों का ज्ञाता' कहने की आवश्यकता नहीं थी । वे यही कहते कि 'आप को ही ब्रह्मा से इस ज्ञान को प्राप्त करने का अहोभाग्य प्राप्त हुआ है, अत : आपसे ही पूछने आये हैं । किन्तु ऐसा किसी प्रकार का संकेत न करके यहां उनकी व्यक्तिगत विद्वता का ही संकेत स्पष्ट हो रहा है कि वे स्वयं ज्ञाता हैं इसलिए अपने ज्ञान के आधार पर ही उन्हें उत्तर देना है — वेदों में खोजा हुआ अपना ही आशय बताना है, दूसरे का नहीं ।

(ग) यदि ब्रह्मा से यह ज्ञान प्राप्त किया होता, और ब्रह्मा के नाम के कारण ऋषियों को उस ज्ञान के प्रति आकर्षण होता, अथवा मनु को ब्रह्मा के नाम से उसमें कोई विशिष्टता या ख्याति की बात नजर आती तो मनु सभी बातों के साथ 'ब्रह्मा ने मुझे यह कहा, यह बताया या इसे उचित ठहराया, इसे नहीं' आदि कहते या उनके मत का उल्लेख करते । किन्तु मनुस्मृति में एक स्थल [९।१३८] को छोड़कर ब्रह्मा के मत का कोइं उल्लेख नहीं है । कहीं भी ब्रह्मा के मत का उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि मनुस्मृति की रचना के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि धर्माधर्म को प्रदर्शित करते समय या तो ऋषि-मुनियों के मत का उल्लेख किया है या अपने मत का ही । जब ऋषि-मुनियों की मान्यता के अनेक स्थानों पर संकेत हैं ['**आहु मनीषिण** : (१।१७) '**धर्मस्य मुनयो गतिम्**' (१।११० ।। २।८८, १२४) आदि]—तो यदि ब्रह्मा का इसके साथ तनिक भी सम्बन्ध होता, तो उसका उल्लेख प्रमुखता से आता, क्योंकि ब्रह्मा को इस विषय का मूल प्रवक्ता और अध्यापयिता का स्थान दिया है । इससे सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता स्वयं मनु हैं, ब्रह्मा का इसकी रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

(घ) मनुस्मृति की शैली से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई निबद्धशास्त्र के रूप में नही थी । जब शास्त्र के रूप में नहीं थी तो इसके लिए मूल-संकलन से 'शास्त्र' संज्ञा का व्यवहार नहीं बनता । जब 'शास्त्र' का व्यवहार नहीं बनता तो 'ब्रह्मा ने इस शास्त्र की रचना की' यह प्रयोग भी नही बनता । इस प्रयोग के न बनने से मनुस्मृति का ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार इन श्लोकों में वर्णित शास्त्र शब्द ही असंगत है ।

(ङ) मनुस्मृति अपने मूलरूप में ऋषियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचन के रूप में है । संकलन के बाद ही मनुस्मृति ने 'शास्त्र' का रूप ग्रहण किया और मौलिक संकलन वही कहा जा सकता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत् रूप में संकलन हो, जबकि 'शास्त्र' संज्ञा का प्रयोग मौलिक नहीं हो सकता । क्योंकि, जो प्रवचन अभी किसी संकलन के या शास्त्र के रूप में नहीं आये हैं, उन्हें मनु 'शास्त्र' कहकर कैसे पुकारते ? स्पष्ट है कि मनु के प्रवचनों द्वारा 'संकलन' का रूप लेने के बाद जब वे 'शास्त्र' के रूप में विख्यात हो गये, तब जाकर इस प्रकार के श्लोक मिलाये गये जिनमें इसे 'शास्त्र' शब्द से व्यवहृत किया गया है ।

इस प्रकार ५८—५९ श्लोकों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग उन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है ।

(च) कुछ विद्वानों की पूर्व प्रदर्शित उन दो युक्तियों के आधार पर यदि इसे मनुकृत माना जा सकता है तो युक्ति देने वाले उन विद्वानों को चाहिए कि वे इसे अन्तिम रूप में भृगुकृत माने (भृगुसंकलित नहीं) । क्योंकि यदि आशय समझ कर — पढ़कर उसे बतलाने के कारण मनु इसके रचयिता हैं तो भृगु ने भी मनु के आशय को महर्षियों के समक्ष अपने शब्दों में कहा है

[५८–६०] । इस प्रकार तो भृगु इसके रचयिता हुए । इस प्रकार ये युक्तियाँ स्वयं युक्तिदाताओं की मान्यता को खंडित कर रही हैं, अत : मान्य नहीं हैं । इन युक्तियों से यह बात पूर्णत : स्पष्ट हो गई है कि मौलिक श्लोकों के अनुसार मनुस्मृति की रचना के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मौलिक रूप से मनुकृत है और ब्रह्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाले सभी प्रसंग परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं ।

इस प्रकार सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर विचार करने के अनन्तर यही निष्कर्ष सामने आता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता या रचयिता स्वायम्भुव मनु हैं ।

३. मनु और मनुस्मृति : काल निर्धारण

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों ने जिन बातों को सर्वाधिक क्षति पहुचायी है, उनमें एक है — 'मनु और मनुस्मृति का कालनिर्णय' । लेखकों ने मनुस्मृति में प्राप्त वर्णनों पर विचार किया है और उनके अनुसार ही काल का अनुमान लगाया है । कालनिर्णय के लिए आधार बनाये गये उन वर्णनों पर आगे विचार किया जायेगा, जिनके आधार पर मनुस्मृति को अर्वाचीन घोषित किया है । यहां प्रथम, मनु और फिर वर्तमान मनुस्मृति के कालनिर्धारण सम्बन्धी अन्य आधारों पर विचार किया जाता है ।

पूर्वोक्त विवेचन से यह मत स्थिर हो गया है कि स्मृति, धर्म- नियम आदि के प्रसंग में प्राप्त होने वाला मनु स्वायम्भुव मनु ही है । इस समस्त विवेचन और ग्रन्थ में मनु नाम से यही अभिप्रेत होगा ।

(क) प्राचीन भारतीय साहित्य में स्वायंभुव मनु का काल —

१. मनु के काल का अनुमान लगाने में मनुस्मृति तथा मनुस्मृति से भिन्न भारतीय साहित्य में प्राप्त वंशावलियां ही सहायक हैं । मनुस्मृति में तीन स्थानों पर मनु के वंश की चर्चा है — (क) ब्रह्मा से विराज, विराज से मनु, मनु से मरीचि आदि दश ऋषि उत्पन्न हुए [१/३२–३५] । (ख) ब्रह्मा से मनु ने धर्मशास्त्र पढ़ा, मनु से मरीचि, भृगु आदि ने । यह विद्यावंश के रूप में वर्णन है । [१/५८–६०] (ग) हिरण्यगर्भ = ब्रह्मा के पुत्र मनु हैं और मनु के मरीचि आदि । [३/१९४] । यद्यपि मनुस्मृति के प्रसंगों में ये तीनों ही स्थल प्रक्षिप्त होते हैं, किन्तु पारम्परिक जनश्रुति के रूप में यदि इन्हें स्वीकार करें तो स्वायंभुव मनु पुत्र या शिष्य के रूप में ब्रह्मा से दूसरी पीढ़ी में उल्लिखित है । यही तथ्य इसके स्वायंभुव (स्वयंभू = ब्रह्मा, उसका पुत्र या शिष्य) विशेषण से स्पष्ट होता है ।

२. महाभारत तथा पुराणों में भी वंशावलियां प्राप्त हैं, उनमें भी मनु को ब्रह्मा का पुत्र बताया गया है अथवा शिष्य के रूप में उसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्मा से वर्णित है ।[४४]

प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार ब्रह्मा को आदि सृष्टि में माना जाता है और भारत का प्रत्येक कुलवंश तथा विद्यावंश ब्रह्मा से ही प्रारम्भ होता है । इस प्रकार मनु का काल भी आदिसृष्टि का स्थिर होता है ।

३. इसी मान्यता को निरुक्त ने मनु का मत उद्धृत करते हुए एक श्लोक से पुष्ट किया है —

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।। ३।४ ।।

अर्थात् — 'दायभाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता है' —यह विसर्गादौ = सृष्टि के आदि काल में स्वायम्भुव मनु ने कहा है ।

४४. महा. आदि १।३२ ; शान्ति. ३३५।४४ ।।

यहां स्पष्टत : मनु का काल आदिसृष्टि बताया गया है । महर्षि दयानन्द इसी मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं —महर्षि मनु आदिसृष्टि में हुए ।

४. भारतीय चतुर्युग और मन्वन्तर कालगणना पद्धति [मनु. १/६४–७३, ७९, ८०] के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति को हुए एक अरब, छियानवे करोड़, आठ लाख, तरेपन हजार पिचासी वर्ष (१,९६,०८,५३,०८५) बीत चुकें हैं और छियासीवां सृष्टिसंवत् इस वर्ष अर्थात् ईस्वी सन् १९८५ और विक्रम सं. २०४२ में चल रहा है । इकहत्तर (७१) चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है । स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष — ये छह मन्वन्तर बीत चुके हैं । सातवां वैवस्वत मन्वन्तर इस समय चल रहा है । इस मन्वन्तर की चतुर्युगी में यह कलियुग का समय चल रहा है ।[४५]

इस सृष्टि-उत्पत्ति के समय को सुनकर पाश्चात्य और आधुनिक लोग अत्यधिक आश्चर्य करते हैं और विश्वास भी नहीं करते । उन्हें यह जिज्ञासा होती है कि कालगणना का इतना हिसाब कैसे रखा गया । इसके उत्तर में उन्हें एक व्यवहार में प्रचलित प्रमाण सम्पूर्ण देश में उपलब्ध हो जायेगा । भारतीयों ने वर्षों की बात तो छोड़िये पल और प्रहर तक का हिसाब रखा है । ज्योतिषीय पंचांगों में यह आज भी उपलब्ध है । विवाह आदि धार्मिक कृत्यों में संस्कार के समय एक संकल्प की परम्परा है । उसमें **'आर्यावर्ते वैवस्वत मन्वन्तरे कलियुगे अमुक प्रहरे'** आदि बोलकर विवाह का संकल्प किया जाता है । इस प्रकार परम्पराबद्ध रूप से समय का हिसाब सुरक्षित है ।[४६]

उपलब्ध भारतीय वंशावलियों के अनुसार ब्रह्मा को आदि वंशप्रवर्तक माना जाता है और मनु उससे दूसरी पीढ़ी में परिगणित हैं । इस प्रकार इस सृष्टि में जब से मानवसृष्टि का प्रारम्भ हुआ है, स्वायंभुव मनु उस आदिसृष्टि या आदि समाज के व्यक्ति सिद्ध होते हैं ।

(ख) आधुनिक मतों के अनुसार स्वायंभुव मनु का काल —

आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन मतों को अमान्य मानकर नये सिरे से समग्र इतिहास पर विवेचन प्रारम्भ किया हुआ है । ये इतिहासकार अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनाओं एवं कार्यपद्धति से प्रभावित हैं । यद्यपि इनके मतों में अनुसन्धान के आधार पर परिवर्तन आता रहता है, तथापि अब तक स्थिर हुए कुछ आधुनिक मतों का यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

श्री के. एल. दफ्तरी स्वायंभुव मनु का काल २६७० ई. पू. मानते हैं ।[४७] श्री त्र्यं. गु. काले ने पुराणों के आधार पर मनु का काल ३१०२ ई. पूर्व निर्धारित किया है ।[४८] लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ज्योतिर्विज्ञानीय तत्त्वों के आधार पर प्राचीन वैदिक साहित्य का कालनिर्णय करने का प्रयास

४५. मनु. १।६४-७३, ७९, ८० श्लोकों में चतुर्युगी और मन्वन्तर कालगणना का पूर्ण विवरण है । विस्तार के लिए पाठकगण उनकी समीक्षाएं देखें ।

४६. पाश्चात्य और आधुनिक लोग सृष्टि उत्पत्ति के इस समय पर अविश्वास करते हैं । वे प्रत्येक आधुनिक वैज्ञानिक बात को ही प्रामाणिक समझते हैं । उनके लिए इस सृष्टि संवत् की पुष्टि हेतु एक वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत है । यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता बदल गयी है,और उन्होंने जो नयी मान्यता प्रस्तुत की है, वह भारतीय प्राचीन मान्यता से मिलती-जुलती है । प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैडम क्यूरी ने रेडियम धातु की खोज की है । मिट्टी में मिलने वाले रेडियम के कणों का परीक्षण और अध्ययन करके, उनमें नियत समय में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर, वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि 'इस पृथ्वी को बने हुए लगभग दो अरब वर्ष हो चुके हैं ।' (रेडियम — भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, साहित्य रसायन, पृ. ५७, प्रकाशक-कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय) ।

४७. रामचन्द्रकालनिर्णय, पृ. ५५ ।

४८. पुराण निरीक्षण, पृ. ३१५ ।

किया है । उनके अनुसार कृत्तिका नक्षत्र में वसन्तारम्भ के समय ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई और मृगशिरा नक्षत्र के काल में वैदिक मन्त्रसंहिताओं की रचना हुई । खगोल और ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कृत्तिका और मृगशिरा नक्षत्रों में वसन्तारम्भ क्रमशः आज से ४५०० एवं ६५०० वर्षों पूर्व हुआ था । इस प्रकार इन ग्रन्थों का काल क्रमशः २५०० ई. पू. तथा ४५०० ई. पू लगभग निर्धारित होता है ।[४९] इस आधार पर मनु का काल भी ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व इसी कालावधि में निर्धारित होगा ।

स्वरचित 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में, धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों के प्रसिद्ध विवेचक डा. पी. वी. काणे ने शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता आदि का काल ई. पू. ३०००—१००० वर्ष माना है । मनु की जीवनस्थिति इससे पूर्व की होने के कारण मनु का काल भी इनसे प्राचीन होगा ।

मनु के आदिसृष्टि में होने से अभिप्राय —

आदि सृष्टि से यहां यह अभिप्राय नहीं है कि जब से संसार बना, वही काल यहाँ अभीष्ट है । यहाँ आदिसृष्टि से अभिप्राय मानव सृष्टि और मानवसमाज की संरचना से है । भारतीय इतिहास में ब्रह्मा से पूर्व कोई वंश परम्परा नहीं मिलती । इसका काल जो भी माना जाये, किन्तु इस वंशप्रवर्तक की दृष्टि से ब्रह्मा आदिसृष्टि का कहलाता है । इसी आधार पर मनु को आदिसृष्टि का कहा जाता है ।

विश्व के समग्र साहित्य में ऋग्वेद को सभी विद्वान् सबसे प्राचीन मानते हैं । उसके बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का समय माना जाता है । इस कारण वेदों को और वैदिक साहित्य को आदि सृष्टि का कहा जाता है । ब्राह्मणग्रन्थों, तैत्तिरीय आदि संहिताओं[५०] में धर्मप्रवक्ता के रूप में मनु का बहुधा उल्लेख आता है । अतः मनु का काल ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व ही स्थिर होता है । प्राप्त प्राचीन वाङ्मय के आधार पर तो मनु का काल आदि सृष्टि या आदि समाज का निर्धारित होता ही है, आधुनिक मतों से भी यही भाव ध्वनित होता है ।

इसके अतिरिक्त मनु मानव व्यवस्थाओं के आदि कालीन व्याख्याता थे । इस कारण भी उन्हें आदिकाल का माना जाता है ।

वेदो में मनु शब्द —

पाश्चात्य एवं पाश्चात्य विचारधारा के अनुगामी आधुनिक विद्वान् मनु पर विचार करते समय उसका उल्लेख एवं जीवन-परिचय वेदों में खोजते हैं । उनका कथन है कि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर व्यक्तिवाचक मनु शब्द आया है । कहीं उसे पिता कहा है, कहीं प्रारम्भिक यज्ञकर्त्ता, तो कहीं अग्निस्थापक के रूप में उसका वर्णन है ।[५१]

इस चर्चा का उत्तर मनु के मन्तव्य के अनुसार दिया जाये तो अधिक प्रामाणिक होगा । मनु वेदों को ईश्वरप्रदत्त अर्थात अपौरुषेय मानते हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य के माध्यम से वेदों का ज्ञान दिया । अपौरुषेय होने के कारण वेदज्ञान पूर्णतः चिन्त्य नहीं है, और अपरिमित है ।[५२] प्रारम्भ में वेदों से ही शब्द ग्रहण करके व्यक्तियों और वस्तुओं का नामकरण किया

४९. गीता रहस्य में ।

५०. तैत्ति. सं. २।२।१०।२ : ३।१।९।४ ।। तां. ब्रा. २३।१६।७ ।। तैत्ति सं. ३।१।९।३० ।। काठ सं. ११।२ ।।

५१. ऋग् १।८०।१६ ; १। ४।२ ; २।३३।१३ ; ८।६३।१ ; ८।३०।१ ; १०।६३।७ ।।

५२. मनु. १।२३ ; १।४

गया ।[५३] मनु द्वारा वेदों को अपौरुषेय घोषित करने के उपरान्त उसी मनु का वेद में इतिहास ढूंढना मनु के साथ ही अन्याय है, और मनु से पूर्व वेदों का रचनाकाल होने से कालविरुद्ध भी है।

वेदों में मनु शब्द विभिन्न अर्थों में आया है । कहीं वह ईश्वर का पर्यायवाची है,[५४] कहीं मनुष्य के लिये है,[५५] कहीं मननशील विद्वान् के लिये है ।[५६] विचारकों को जहां इसके व्यक्तिवाचक होने का आभास होता है, वह वस्तुत : ईश्वरवाचक प्रयोग है । अधिक विस्तार में न जाते हुए, इस विषय में मनुस्मृति का ही एक प्रमाण देकर इस बात को प्रमाणित किया जाता है । ईश्वर का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं कि उस परमेश्वर को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, जिनमें एक नाम 'प्रजापति मनु' भी है —

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।१२/१२३ ।।

इस प्रकार मनु के मन्तव्य के अनुसार वेदों में 'प्रजापति' 'पिता' आदि विशेषणों से संबोधित मनु ईश्वर ही है । इस आधार पर वेद में मनु का परिचय खोजना मनु के दृष्टिकोण के विरुद्ध है ।

---

५३. मनु. १।२२ ।।

५४. ऋग. १।८०।१६ ; (स्वामी दयानन्द भाष्य)

५५. ४।२६।४ ; ५।२।१२ ; ६।२१।११ , ८।४७।४ ।।

५६. ऋग. १।८०।१६ ; १।३३९।९ ; २।३३।१३ ; (स्वामीदयानन्द भाष्य) ।। निरुक्त एवं ब्राह्मणों ने इन अर्थों की पुष्टि की है — 'मनुः मननात् निरु. १२।३४, 'ये विद्वांसस्ते मनवः' शत. ८।६।३।१८ ।।

४. वर्तमान मनुस्मृति का रचनाकाल

आधुनिक विचारकों का मत है कि वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति का यह छन्दोबद्ध रूप पर्याप्त अवरकालीन है। इसकी कालावधि ईस्वी पूर्व प्रथम से द्वितीय शती मानी गयी है। उपर्युक्त विवेचन में सप्रमाण यह स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति के मूलप्रवक्ता स्वायंभुव मनु हैं, और अधिकांश विद्वान् इसी मत को ही मानते हैं। इस तथ्य को तो सभी स्वीकार करेंगे ही कि जिसकी जो कृति है वह उसी के काल की होगी, अत: इस बात में तो कोई संदेह ही नहीं होना चाहिये कि मूलत: मनुस्मृति उसके प्रवक्ता स्वायंभुव मनु के काल की ही है। हां, यह बात अवश्य विचारणीय है कि उसका प्रारम्भिक रूप क्या रहा होगा। मनुस्मृति के आद्यरूप पर विचार इस अध्याय के अन्त में किया जायेगा। यहाँ पहले, वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति के छन्दोबद्ध रूप के काल पर विचार किया जाता है। यद्यपि अन्य प्राचीन ग्रन्थों की तरह मनुस्मृतिविषयक काल का कहीं कोई उल्लेख न होने के कारण सुनिश्चित रूप से समय का निर्धारण करना कठिन है, फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में पाये जाने वाले उद्धरणों, नामोल्लेखों को आधार मानकर उसका अनुमान लगाया जा सकता है। अब यहाँ विद्वानों द्वारा इस विषय में आधाररूप में अपनाये गये तथ्यों पर तथा इसके कालनिर्धारण में सहयोगी अन्य आधारों एवं संकेतों पर विचार किया जा रहा है —

(क) अर्वाचीन आधार एवं संकेत — प्रथम ईस्वी सन् से लेकर १३०० ईस्वी तक के भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस कालावधि में प्रचलित मनुस्मृति पर्याप्त लोकप्रिय एवं प्रभावी रही है। इस पर अनेक विद्वानों ने संस्कृत भाष्य लिखे, जिनमें कुल्लूक भट्ट की मन्वर्थमुक्तावली टीका आज अधिक प्रचलित [११५०–१३०० ई.] है। मेधातिथि का मनुभाष्य सबसे प्राचीन भाष्य उपलब्ध है, जिसका काल ८२५–९०० ई. के मध्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति पर सर्वज्ञनारायण की मन्वर्थविवृति [लगभग १४०० ई.], गोविन्दराज की मनुटीका [लगभग १२००–१३०० ई.], नन्दन की नन्दनी और राघवानन्द की टीका उपलब्ध है।

विश्वरूप [७९० –८५० इ.] ने अपने याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य और यजुर्वेदभाष्य में मनुस्मृति के लगभग दो सौ श्लोक उद्धृत किये हैं ।[४७] इससे परवर्ती मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर [१०४० –११०० ई.] ने भी अपने भाष्य में मनुस्मृति के सैंकड़ों श्लोक उद्धृत किये हैं ।[४८] शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र भाष्य में मनुस्मृति के कई श्लोक अपने विचारों की पुष्टि के लिए ग्रहण किये हैं और कुछ श्लोकों के साथ तो मनु के नाम का स्पष्ट उल्लेख है ।[४९] ५०० ई. में [कुछ के मतानुसार २०० –४०० ई.] जैमिनिसूत्र भाष्य में शबरस्वामी द्वारा मनु के मतों का उल्लेख किया मिलता है ।[५०] बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने अपनी 'बज्रकोपनिषद्' रचना में अपने विचारों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है ।[५१] यह राजा कनिष्क [७८ ई.] का समकालीन था ।

ईस्वी पूर्व के ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो यद्यपि याज्ञवल्क्य स्मृति में विषयों का वर्गीकरण नये ढंग से किया है और बहुत सारे नये विषय भी अपनाये हैं, किन्तु मनु से मिलते हुए जो भी विषय हैं उनमें ऐसा लगता है जैसे मनुस्मृति को सामने रखकर ही उनका अपने शब्दों में संक्षेपीकरण किया हो ।[५२] इसका काल १०२ ई. पू. माना जाता है । इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति से पर्याप्त प्राचीन रचना है । इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र को [१०० –३०० ई. पू.] पढ़ने पर प्रतीत होता है कि अपने बहुत-से नये विषयों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ प्राचीन बातों के वर्णन में मनुस्मृति को आधार बनाकर वर्णन किया है ।[५३] बहुत-से स्थलों पर मनु के मत का नामपूर्वक उल्लेख है ।[५४] वर्तमान मनुस्मृति में ७ / १०५ पर पाया जाने वाला निम्न श्लोक कौटिल्य अर्थशास्त्र प्र १० / अ. १४ में लगभग उसी रूप में पाया जाता है —

नास्य छिद्रं परो विद्यात् विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः ।।

भासकृत 'प्रतिमानाटक' [२०० –३०० ई. पू. कुछ के मत में ४०० –५०० ई. पू.] में रावण के मुख से उच्चारित वाक्य से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व 'मानवधर्म शास्त्र' एक प्रसिद्धिप्राप्त शास्त्र था——

''रावण :— काश्यपगोत्रोऽस्मि सांगोपांग वेदमधीये मानवीयं
धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रम् . . . . च'' (पृ. ७९)

---

४७. विश्वरूप ने याज्ञ. स्मृ. १।४५ तथा २।७३, ७४, ८३, ८५ श्लोकों के भाष्य पर मनु. के ८।६८, ७०, ७१, १०५, १०६ . ३४० श्लोक उद्धृत किये हैं ।

४८. याज्ञ स्मृ. १।७, ५३, ६२, ६९, ७२, ७८, ८०; २।१, २, ४, २१, २६ आदि श्लोकों के भाष्य पर मनु. के २।१०, ३।५, ३।४४, ९।६९, ३।४९; ८।१२८, ८।१३, ८।४-७, ८।३५०-३५१, ८।१२९ श्लोक उद्धृत किये हैं ।

४९. शंकराचार्य ने १।३।२८; १।३।३६; २।१।१; २।१।११; ३।४।३८; ४।२।६ सूत्रों पर मनु. के १।२७; २।१४ तथा १२।६; १२।९१; १२।१०५-१०६; २।८७; १।२७ श्लोक उद्धृत किये हैं । ३।१।१४ पर मनु का नामोल्लेख है और २।१।१ में 'मनुर्वै यत्किञ्चावदत् ' या ब्राह्मणवाक्य उद्धृत करके मनु की प्रशंसा है ।

५०. धर्मशास्त्र का इतिहास — पी. वी. काणे ।

५१. वही ।

५२. द्रष्टव्य यथा — याज्ञ स्मृ. के २।७, १।२५, १।३४; २।२३ आदि श्लोकों में मनु. ३।१२, ३।१३, ३।१४३, १४३, १४४; ८।४० के श्लोकों का संक्षिप्त भाव ।

५३. द्रष्टव्य अर्थशास्त्र प्र. ३।अ. २, ३।४, ३।५, १४।८ दिनचर्या प्र. ५७ में मनु ७।३९, ७।३५ तथा ४३ ७।३७-२२५ दिनचर्या ७।१४५ श्लोकों का यथावत् भाव ।

५४. द्रष्टव्य प्र. ८।अ. २९, ११२ २०।१२२ आदि ।

इतिहासकार शूद्रकरचित 'मृच्छकटिकम्' नाटक को ई. पू. तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। इसमें मनु के किसी ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करते हुए 'ब्राह्मण अवध्य है' मनु का यह मत मनु के नामोल्लेखपूर्वक दिया है —

> अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
> राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ।। मृच्छ ९।३९।।

(ख) प्राचीन आधार एवं संकेत — परम्परागत मान्यताओं के अनुसार और अधिक प्राचीन माने जाने वाले साहित्य में भी मनुस्मृति के श्लोकों के उद्धरण मिलते हैं —

१. महाभारत में अनेक स्थलों पर स्मृतिकार के रूप में स्वायंभुव मनु या मनु का उल्लेख आता है। बहुत से ऐसे श्लोक हैं जो मनु के नाम से उद्धृत हैंऔर वे प्रचलित मनुस्मृति में यथावत् पाये जाते हैं। ऐसे श्लोक, जो मनु के नाम के बिना भिन्न-भिन्न धर्मवर्णन प्रसंगों में उद्धृत हैं, और जो मनुस्मृति में यथावत् रूप में पाये जाते हैं, उनकी संख्या भी पचासों है। इसके अतिरिक्त किंचित् पाठभेद वाले और यथावत् गृहीत भाव वाले श्लोकों की संख्या भी पचासों में है। उदाहरण के रूप में कुछ श्लोकों का टिप्पणी में विवरण दिया जाता है।[६४] अनुसन्धान करने पर और भी मिलेंगे।

६४.(अ) स्वायंभुव मनु के नाम वाले श्लोक —

महा. आदि. ७३। ८-९. शान्ति. ३६। ५-८, ३३५। ४४-४६. अध्याय १२। १२१। २६। १२१। १०. १२ आदि।

(आ) मनु के नाम से उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक —

महाभारत में	मनुस्मृति में
शान्ति. ५६। २४	९। ३२१
आदि. ७३। ९-१०.	३। २१

(इ) मनु के नाम के बिना उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक —

महाभारत में	मनुस्मृति में	महाभारत में	मनुस्मृति में
आदि. ७४। ४०	२। ९४	१०८। १७-२०	२। १४४-१४६
शान्ति. ३४। २	११। ४४	१२१। ५०	८। ३३५
३५। ४-५	११। ७५-७६	१३०। ४०	४। २०
३५। ६	११। ७९	१३०। ५०	८। ४४
३५। १६	११। ९०	१३९। ७२	४। १७३
३६। २७	४। २१८	१४०। ७, ८, २४	७। १०२-१०६
३६। ३१	३। २२७	१६१। ४	११। २३७
३६। ४३	२। [illegible]	१६५। [illegible]	[illegible] ११-४०
३६। ४७	[illegible]	[illegible]	४। २३८, २३९;
३९। ६	[illegible]	३३-४७	[illegible] २०७, २०
[illegible]	[illegible]		१०३, १०४, ३६, [illegible]
[illegible] (आधा)	२। २०२	[illegible]	८। ३९९
[illegible]	८। ३०४	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	४। २९; ३। २८४;
[illegible]	[illegible]		४। [illegible];
८३। १४	७। २१७	२४४। १०-११	६। [illegible]
८३। २५	७। २३९	[illegible]	६। ३९

इन सब प्रमाणों से वर्तमान मनुस्मृति की स्थिति महाभारत से पूर्व सिद्ध होती है । महाभारत के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर और भारतीय परम्परा से महाभारत के युद्ध का काल पांच हजार वर्ष से पूर्व माना जाता है और महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास को उस युद्ध का समकालीन माना जाता है । इस प्रकार मनुस्मृति का काल उससे भी पूर्व स्थिर होता है ।

इतिहास के आधुनिक विद्वान् महाभारत का रचनाकाल और युद्ध काल भिन्न-भिन्न मानते हैं उनके अनुसार महाभारत का रचनाकाल १००-६०० ई. सन् के मध्य हैं । एक नयी खोज के अनुसार यह काल १०० ई. पू. तक माना जाने लगा है ।[३६]

२. वाल्मीकि रामायण किष्कि. १८/३०, ३२ में मनु के नामोल्लेख पूर्वक दो श्लोक उद्धृत पाये गये हैं — **'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्र-वत्सलौ'** [वा. रामा. किष्कि. १८/३०] यहां स्पष्टत : मनु द्वारा 'गाये और श्लोक' पद पठित हैं (क) बालि-सुग्रीव द्वन्द्व युद्ध में राम दूर खडे होकर छुपकर बालि की हत्या कर देते हैं । मरणासन्न बालि राम के इस कृत्य को अधर्मानुकूल बताता है । उसका उत्तर देते हुए राम मनु के निम्न दो श्लोक उद्धृत करते हुए अपने कृत्य को धर्मानुकूल सिद्ध करते हैं । ये दोनों श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में किंचित् पाठ भेद पूर्वक ८/३१६, ३१८ में पाये जाते हैं —

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवा : ।
निर्मला : स्वर्गमायान्ति सन्त : सुकृतिनो यथा ।।

.. ९० । १६	८ । १६	२४४ । १५.	६ । ३-५
.. ९१ । ६	९ । ३०१	२६४ । ११-१३	४ । २२४-२२६
.. ९१ । २१	४ । १७२-१७३		
.. १०८ । ५-९, १२	२ । २२९-२३४		

(ई) मनुस्मृति के भावों का यथावत् वर्णन करने वाले श्लोक —

महाभारत में	मनुस्मृति में	महाभारत में	मनुस्मृति में
शान्ति. ३६ । २०	१२ । ११०, ११२	शान्ति. २०१ । ३२-३३,	१२ । ८,
.. ३६ । २८	४ । २१७, २२०	२४३ । २-४,	४ । ७-९,
.. ५६ । २४,	९ । ३१३, ३१९	२४३ । ७-८,	४ । २९-३१
.. ७२ । १२,	९ । ६९	२४४ । ८-९	६ । १८
.. ८७ । ३-५,	७ । ११४-११७	२४४ । १२-१५,	६ । १७, २०, २९,
.. ८७ । १८	७ । १२८	२४४ । २३-२४,	६ । ३८
.. ८८ । ४-५,	७ । १२९	२४४ । ४-५,	६ । ४३-४४
.. ९५ । १८	४ । १७२	२४४ । १७,	६ । ४०
.. १६५ । २४,	११ । २४	२४४ । ७,	६ । ४३-४४
१६५ । ५६-५९	११ । १२६-३१		
.. १६५ । ६६	८ । ३७१, ३७३		

३६. श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपनी 'महाभारत मीमांसा' में शोधपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'एक डायो क्रायं सोस्टोम' नामक यूनानी लेखक ५० ई. में दक्षिण के पाण्ड्य देश में आया था । उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' [= ऐतिहासिक महाकाव्य] है । इसमें सन्देह नहीं कि इलियड से उसका अभिप्राय 'महाभारत' से ही है ।'

शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेन : पापात् प्रमुच्यते ।।
राजात्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ।।

(ख) इनके अतिरिक्त वा. रामा. अयो. १०७/१२ में एक और श्लोक मिलता है, जो मनु. ९/१३८ में प्राप्त है । चतुर्थ पाद में पाठभेद के अतिरिक्त यह ज्यों का त्यों है । वहां यह श्लोक मनु के नाम के बिना उद्धृत है —

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुत: ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्त : पितॄन् य : पाति सर्वत : ।।

भारतीय प्राचीन मान्यता के अनुसार वाल्मीकि रामायण राम के समकालीन है और राम का काल लाखों वर्ष पूर्व माना जाता है । पाश्चात्य एवं आधुनिक भारतीय विद्वान् रामायण का रचनाकाल ई. पू. तीसरी शताब्दी से छठी ईस्वी तक मानते हैं । हालांकि आजकल कुछ पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय लोगों ने यह एक नया विवाद उत्पन्न कर दिया है कि वाल्मीकि रामायण महाभारत से परवर्ती है । प्रसंगवश यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं कि ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनके आधार पर महाभारत रामायण से परवर्ती रचना सिद्ध होती है । 'महाभारत रामायण से पूर्व की रचना है' यह मत कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने दिया है और उनके कुछ भारतीय अनुयायियों ने उनकी हां में हां मिला दी है । भाषा का आधार मानकर वे लोग ऐसा कहते हैं । लेकिन यह कोई अकाट्य आधार नहीं है, और न उनके पास इसकी सिद्धि के लिये ठोस प्रमाण हैं । यहाँ इस विषय को उठाना प्रासंगिक नहीं है, अत: दो चार प्रमाण देकर ही इस चर्चा को समाप्त किया जाता है । इस विवेचना में उसी पुरानी भारतीय मान्यता को स्वीकार किया गया है कि महाभारत वाल्मीकि से परवर्ती रचना है । वाल्मीकि रामायण को महाभारत से पूर्व सिद्ध करने वाले प्रमाण हैं —(क) रामायण में महाभारत की घटनाओं या कौरवों, पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं, जबकि महाभारत में वाल्मीकि, उसकी रामायण, राम सम्बन्धी घटनाओं तथा उसके पात्रों का उल्लेख है, (ख) महाभारत में अनेक स्थलों पर घटनावर्णन, उपमाएं, श्लोकार्ध रामायण से मिलते हैं (ग) निम्न दो श्लोक महाभारत में वाल्मीकि रामायण के प्राप्त होते हैं —

अ. **ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।**
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृति: ।।
महा. शान्ति. १७२/२५ ।।

रामायण में यह किष्कि. ३४/१२ पर है । वहाँ ब्रह्मघ्ने के स्थान पर 'गोघ्ने' पाठभेद है । 'राजन' के स्थान पर 'सद्भि:' पाठ है ।अन्य यथावत् है ।

आ. **न हन्तव्या: स्त्रियश्चेति नदब्रवीषि प्लवंगम ।**
पीडाकरममित्राणां यत्स्यात् कर्तव्यमेव तत् ।।
महा. ७/१४३/६६ ।। (वा. रामा. में युद्ध० ८१/२८ में)

३. मनुस्मृति में केवल वेदों [१।२१, २३ ; ३।२ ; ११।२६२-२६४ ; १२।१११-११२ आदि] और वेदांगों [२।१४०, २४१] का ही उल्लेख मिलता है । यह उल्लेख भी एक विद्या के रूप में है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित ग्रन्थ के रूप में । इसकी पुष्टि के लिए दो तर्क दिये जा सकते हैं —(क) इन विद्याओं के साथ न तो कहीं रचयिता का संकेत है और न ग्रन्थरूप का । (ख) १२।१११ में इन विद्याओं के ज्ञाताओं का **'हेतुक: 'तर्की' 'नैरुक्त: धर्मपाठक:'** आदि विद्याविशेषणों से परिगणन किया है, न कि ग्रन्थज्ञाता के रूप में । एक-एक विद्या पर विभिन्न

आचार्यों के ग्रन्थ प्राप्त हो रहे हैं । किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख न होना और अन्य ब्राह्मण, उपनिषद् आदि विधाओं का उल्लेख न मिलना यह सिद्ध करता है कि यह स्मृति इन सबसे पूर्व की रचना है । (मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अन्य विद्या-विषयों, व्यक्तियों के नामों एवं स्थानों के विषय में समाधान इसी अध्याय में आगे 'मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान' शीर्षक में देखिये) ।

४. मनुस्मृति का आधार केवल वेद ही हैं । मनु सीधे वेद से विज्ञात बातों को ही धर्मरूप में वर्णित करते हैं और उसी को आधार मानने का परामर्श देते हैं [१/४, २१, २३;२/१२८, १२९, १३०, १३२ ; १२/९२-९३, ९४, ९७, ९९, १००, १०६, ११०-११२, ११३ आदि] । वेद और मनुस्मृति के बीच अन्य किसी ग्रन्थ का उल्लेख न मिलना यह इंगित करता है कि यह मूलत : उस समय की रचना है जब धर्म में केवल वेदों को ही आधारभूत महत्त्व प्राप्त था, अन्य ग्रन्थों को इस योग्य प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी । यह समय अत्यन्त प्राचीन ही था ।

५. विभिन्न स्मृतियों में तो मनु का उल्लेख भी है और प्रशंसा भी, अनेक सूत्रग्रन्थों में भी मनु के नाम का तथा उसके मत का उल्लेख प्राप्त होता है । इनमें आश्वलायन श्रौतसूत्र [९/७/२ ; १०/७/१], आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [३।१।७ ; ३/१०/३५], वासिष्ठ धर्मसूत्र [१/१७] आपस्तम्ब धर्मसूत्र [२/१४/११] बौधायन धर्मसूत्र [४/१/१४, ४/२/१६] गौतम धर्मसूत्र [२१/७], आदि उल्लेखनीय हैं ।

६. अतिप्राचीन काल में इस सम्पूर्ण देश का नाम आर्यावर्त था । महाभारत के अनुसार दुश्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर इसका नाम भारतवर्ष पड़ा [आदि. २/९५-९६ ; ७४/१३१] महाभारत में इस देश को भारतवर्ष ही कहा गया है ।[९७] मनुस्मृति में आर्यावर्त नाम का उल्लेख इसे महाभारत आदि ग्रन्थों से पुरातन और प्रारम्भकाल का इंगित करता है ।

७. रामायण काल में भी आर्यावर्त की वह मनुस्मृतिप्रोक्त स्थिति नहीं रह गयी थी. अत : रामायण मनुस्मृति से बाद की रचना है ।

८. इसी प्रकार ब्रह्मावर्त प्रदेश और उसका मनुप्रोक्त महत्त्व प्रारम्भिक काल में था । रामायण, महाभारत तक इस प्रदेश का नाम बदल चुका था । इस ग्रन्थ में उसका उल्लेख न होना भी उन्हें मनुस्मृति के बाद की रचना सिद्ध करता है ।

निष्कर्ष --

उपर्युक्त आधारों और युक्तियों पर विचार करने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि वर्तमान में प्रचलित यह छन्दोबद्ध मनुस्मृति भी अत्यन्त प्राचीन है । उपलब्ध लौकिक भाषा के ग्रन्थों से तो यह प्राचीन है ही, कुछ वैदिक ग्रन्थों से भी प्राचीन है ।

आधुनिक मतों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उन पर 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाली कहावत चरितार्थ होती दिखायी पड़ती है । एक-एक बात को लेकर लगभग सभी प्रसिद्ध विद्वानों के अलग-अलग मत हैं । कहीं कोई एकरूपता नहीं । फिर इन मतों की स्थिरता का भी कोई भरोसा नहीं है । बहुत जल्दी-जल्दी ये बदलते जा रहे हैं । फिर भी, उनके आधार पर भी यह निष्कर्ष सामने आया है कि यह छन्दोबद्ध मनुस्मृति रामायण, महाभारत आदि से प्राचीन है ।

स्मृतियों को प्राचीन मानने में आधुनिक विद्वानों को शायद इस कारण संकोच अनुभव होता है कि

---

९७. महा. भीष्म अ. ९-१० तक ।

वे पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पहले से ही निर्धारित की गयी धारणाओं को मानकर चलते हैं । पाश्चात्य विद्वानों और उनके समर्थक भारतीय विद्वानों ने कालनिर्धारण करने के लिए पहले से ही कुछ सीमा-रेखाएं और उनके पूर्वापर क्रम बना लिये हैं कि अमुक संहिता काल है, अमुक सूत्रकाल, अमुक स्मृतिकाल है, आदि-आदि । लेकिन यह धारणा समीचीन प्रतीत नहीं होती । सूत्रकाल में छन्दोबद्ध रचनाएं भी हुई हैं और छन्दोबद्ध रचनाओं के साथ-साथ सूत्रग्रन्थों की रचनाएं भी । यह मानना भी ठीक नहीं है कि सूत्रग्रन्थ पूर्ववर्ती रचनाएं हैं और स्मृतियां उनके बाद की । इस बात को स्पष्ट और पुष्ट करने के लिए एक प्रमाण देना पर्याप्त रहेगा । आधुनिक इतिहासकार सूत्रग्रन्थों का काल ३०० से ६०० ई. पू. तक मानते हैं और सबसे प्राचीन स्मृतियां गौतम और वासिष्ठ स्मृतियों को मानते हैं। इनका काल ६०२ ई. पू. निर्धारित करते हैं । यही विद्वान् यास्ककृत निरुक्त का काल ८०० ई. पू. तक मानते हैं । निरुक्त ३/४ में जो दायभाग से सम्बन्धित मनु का मत दिया गया है ।वह किसी प्राचीन स्मृतिग्रन्थ का वचन है और अनुष्टुप् छन्द में है[६८] । इसका अभिप्राय यह हुआ कि उनके मतानुसार भी ८०० ई. पू. से पहले भी स्मृतिग्रन्थ थे । जब किसी अन्य स्मृतिकार ने मनु का मत अपनी स्मृति में श्लोकबद्ध किया है तो इसका मतलब है कि उस समय स्मृतियां श्लोकबद्ध रूप में थीं । काल की दृष्टि से प्राचीन होने के कारण मनु की स्मृति पहले ही श्लोकबद्ध हो चुकी होगी, इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता । इस प्रकार छन्दोबद्ध मनुस्मृति के प्रचीन होने की पुष्टि हो जाती है ।

यहाँ कुछ लोगों को यह शंका उत्पन्न होगी कि'रामायण को आदिकाव्य माना जाता है और वाल्मीकि को आदिकवि । उन्हीं के मुख से प्रथम छन्द का उद्‌भव हुआ था'। यह कथन पूर्णत: अयुक्तियुक्त है । ऐसा सोचना इस कारण भी गलत है कि उससे पूर्व वेदों, संहिताओं में रामायण में प्रयुक्त अनुष्टुप् छन्द के अनेक उदाहरण पहले से ही उपलब्ध हैं[६९] । रामायण को आदिकाव्य कहने से अभिप्राय केवल यही है कि काव्यात्मक शैली में, लौकिक साहित्य में वह प्रथम रसमय काव्य है । रामायण की प्रारम्भिक भूमिका में 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम . . .' [बाल. २/१५] के प्रसंग में यह भाव नहीं है कि वाल्मीकि यह सोचने लगे कि मेरे मुख से निकला यह वाक्य गद्य रूप है अथवा श्लोकरूप, अपितु वहां भाव यह है कि 'मैंने भावावेश में यह दुर्भावना युक्त अपवाक्य क्या, और क्यों कह डाला ।' टीकाकारों ने इस प्रसंग की गलत व्याख्या करके उस रूप में प्रस्तुत किया है ।

उस प्रसंग में ब्रह्मा के अवतरण की पौराणिक काल्पनिक कथा ने इस व्याख्या को यह दिशा दी है । यह कथा उस प्रसंग में प्रक्षिप्त सिद्ध होती है । और रामायण में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों को देखकर स्वत: ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति रामायण से भी प्राचीन है ।

६८. अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मत: ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।। ३।४ ।।

६९. लोकप्रचलित अनुष्टुप छन्द का लक्षण है — 'पंचमं लघु सर्वत्र, सप्तमं द्विचतुर्थयो: । षष्ठं गुरुर्विजानीयात एतदनुष्टुप लक्षणम् ।' इस लक्षण के आधार पर वेद का श्लोक देखिए —
(क) वेद में — यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ।। यजु. ४०।६ ।।

५. मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान –

इस विश्लेषण के बाद यह प्रश्न उठता है कि जब मनुस्मृति को प्राचीन सिद्ध करने के इतने आधार उपलब्ध हैं, तो फिर किस कारण से उसे अर्वाचीन माना जा रहा है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इसके जिम्मेदार आलोचक उतने नहीं है जितने कि मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अर्वाचीनसाधक संकेत हैं । यहां उन्हीं कारणों पर प्रकाश डालते हुए उनका समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है । मनुस्मृति में निम्न वर्णन इसको प्राचीन मानने में बाधा पहुंचाते हैं —

१. परवर्ती राजाओं के नाम —मनुस्मृति में मनु से परवर्ती अनेक राजाओं के नाम उदाहरण के रूप में पाये जाते हैं, यथा — वेन, नहुष, पिजवनपुत्र सुदास, सुमुख, नेमि [७/४१] । मनु, पृथु, कुबेर, विश्वामित्र [७/४२] । सुदास [८/११०] । पृथु [९/४४] वेन [९/६६] । विश्वामित्र और चण्डाल कथा [१०/१०८] ।

२. परवर्ती स्मृतिकारों या ऋषियों के नाम — मनुस्मृति में प्रसंगानुसार अनेक स्मृतिकारों और ऋषियों के मतों का उल्लेख है, या धर्मसिद्धि में उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, यथा — अत्रि, उतथ्यपुत्र गौतम, शौनक, भृगु [३/१६] । वसिष्ठ [८/११०;८/१४०] । वत्स [८/११६] । वसिष्ठ —अक्षमाला, शारंगी —मन्दपाल ९/२४] । दक्षप्रजापति द्वारा कश्यप, धर्मराज, सोम राजाओं को कन्यादान [९/१२८-१२९] । अजीगर्त —शुन :शेप [१०/१०५] । वामदेव [१०/१०६] । भरद्वाज-वृधु बढ़ई [१०/१०७] ।

३. परवर्ती स्थानों के नाम — कुछ ऐसे स्थानों का नाम मनुस्मृति में पाया जाता है जो, ऐतिहासिक दृष्टि से बाद में स्थापित हुए हैं, यथा —कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक प्रदेशों वाला ब्रह्मर्षि देश [१/१३८ (२/१९)] । इन्ही देशों के वीरों का युद्ध में स्थाननिर्धारण [७/१९३] ।

४. अर्वाचीन पौराणिक मान्यताओं का वर्णन — कुछ ऐसी मान्यताएं भी मनुस्मृति में पायी जाती हैं, जो बहुत आधुनिक हैं, यथा —क. गंगा और कुरुक्षेत्र में पापनिवृत्ति के लिए जाना [८/९२] ख. आठ और बारह वर्ष की कन्या का विवाह [९/९४] ।

इन वर्णनों या उल्लेखों के समाधान के प्रसंग में कुछ बातें ऐसी हैं, जो सामान्यरूप से सबके साथ लागू होती हैं — (क) इस प्रकार के सभी परवर्ती वर्णन समय-समय पर किये जाने वाले परिवर्तनों, परिवर्धनों और मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप किये गये प्रक्षेप हैं । अपने-अपने प्रसंगों में ये स्थल स्पष्टत : बाद में किये गये प्रक्षेप सिद्ध होते हैं । कहीं इनका प्रसंग से तालमेल नहीं है, तो कहीं मनु का अन्यत्र वर्णित मान्यता से विरोध है । इस प्रकार इन्हें काल निर्धारण में आधार नहीं माना जा सकता । पीछे कई स्थानों पर विस्तार से स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति मूलत : मनु के प्रवचन हैं, और बाद में इन्हें संकलित किया गया है । सही संकलन वही माना जायेगा जो वक्ता के ही भावों को प्रदर्शित करे । इस प्रकार शैली से यह बात स्पष्ट होती है कि मनु के प्रवचनों में मनु से परवर्ती व्यक्तियों का (समकालीन पीढ़ियों को छोड़कर) उल्लेख संभव नहीं । फिर भी मिलता है तो इसका अभिप्राय है कि ये स्थल बाद में किसी ने मिलाये हैं । (ग) इन वर्णनों के आधार पर यह नहीं माना चाहिये कि यह परवर्ती काल में किया गया संकलन है या पुनर्संस्करण है, अपितु मौलिक रूप को आद्यरूप मानते हुए इन्हें परवर्ती प्रक्षेप मानना चाहिये । (घ) उपर्युक्त स्थल अन्य मानदण्डों के आधार पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं । इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन भाष्य में यथास्थान द्रष्टव्य

है। यहाँ इनकी प्रक्षिप्तता को सिद्ध करने वाले कालक्रम संबन्धी तथ्यों को संक्षेप से प्रस्तुत किया जाता है —

१. प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त वंशावलियों के अनुसार मनु या स्वायंभुव मनु का ब्रह्मा के बाद की पीढ़ी में उसके पुत्र या शिष्य के रूप में वर्णन आता है। इस को सृष्टि में सर्वप्रथम राजा माना गया है। इस प्रकार अन्य सभी राजा और ऋषि स्वत : मनु से परवर्ती सिद्ध होते हैं। कुछ राजाओं और ऋषियों की वंशावली अत्यन्त स्पष्ट उपलब्ध है। उससे यह कथन और अधिक पुष्ट हो जाता है। इन राजाओं में नहुष, नेमि या निमि, मनु और पृथु राजा, स्वायंभुव मनु के वंशज वैवस्वत मनु के सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले अन्य राजा हैं। मनु विवस्वान् का, पृथु अनरण्य का, नहुष अम्बरीष का, निमि इक्ष्वाकु का पुत्र था।[७०] कुबेर रावण का भाई था।[७१] विश्वामित्र गाधि राजा का पुत्र था।[७२] वेन अंगदेश का उद्दण्ड राजा हुआ है, जो कर्दमपुत्र अनग का पुत्र था।[७३] पिजवनपुत्र सुदास उत्तरपांचाल का राजा था, जो राम से भी कई पीढ़ी पश्चात्वर्ती है।[७४]सुमुख का निश्चित विवरण अज्ञात है। इस प्रकार ये मनु से बहुत पीढ़ी पीछे हुए हैं।

२. ऋषियों के नाम, विद्यावंश के आधार पर, अनेक कालों में उसी एक-एक नाम से मिलते हैं, अत : यह कहना कठिन है कि इन प्रसंगों में गृहीत वसिष्ठ, भरद्वाज, वामदेव आदि कौन से काल के ऋषि अभिप्रेत हैं, किन्तु फिर भी इस नाम से सर्वप्रथम पाये जाने व्यक्ति भी मनु से परवर्ती हैं। वसिष्ठ, भृगु, अत्रि, मनु के ही पुत्र होने से परवर्ती हैं।[७५] अजीगर्त भृगुकुल में उत्पन्न ब्राह्मण है, और उसी का पुत्र शुन :शेप है। यह राजा हरिश्चन्द्र के समय का है।[७६] कश्यप, मरीचि के पुत्र थे।[७७] ये मनु की तीसरी पीढ़ी में हैं।

इनके अतिरिक्त ८/१४० में वर्णित वसिष्ठ शब्द व्यक्ति-वाचक न होकर 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान्' अर्थ में प्रयुक्त पद है। 'यो वसति धनादि कर्मसु सो ऽतिशयस्तम् उत्तमं विद्वांसम्' निरुक्ति के अनुसार वहां उपर्युक्त अर्थ समीचीन है। इस अर्थ की पुष्टि ८/१५७, ३९८ श्लोकों के वर्णन से भी हो जाती है। १/२३ में वर्णित अग्नि, वायु, रवि और ३/१५१-१५३ में वर्णित आंगिरस ऋषि मनु से प्राचीन होने के कारण उल्लेख्य हैं।

३. कुरुक्षेत्र आदि स्थानों का नामकरण तो मनु से बहुत अधिक परवर्ती है। यह नामकरण महाभारतकालीन है और कौरवों के पूर्वज राजा कुरु के नाम पर प्रचलित वंश के आधार पर रखा हुआ है। कुरु राजा, वैवस्वत मनु की पुत्री इला के वंश में अनेक पीढ़ियों के बाद हुआ है।[७८] इसी प्रकार अन्य प्रदेशों का नामकरण भी परवर्ती है। इस प्रकार मनु के प्रवचनों में अत्यधिक परवर्ती स्थानों का उल्लेख संभव नहीं हो सकता। उक्त दोनों श्लोक मनुस्मृति में प्रसंगविरुद्ध भी हैं।

४. इसी तथ्य के आधार पर 'कुरुक्षेत्र जाने की' मान्यता के वर्णन का समाधान भी हो जाता है। जब मनु के समय कुरुक्षेत्र नहीं था तो वहाँ जाने का वर्णन करना संभव ही नहीं। अत : यह भी

---

७०. वाल्मीकि रामायण बाल. ७०।२०, २४, ४२; ७१।३ ।।
७१. वही, बाल. २०।१८।
७२. वही, बाल. ३४।६ ।।
७३. महाभारत शां. ५९।९६-९९ ।।
७४. प्राचीन च. को. पृ. १०५६ ।।
७५. मनु. १।३५ ।।
७६. ऐत. ब्रा. ७।१५-५७ ।।
७७. वाल्मीकि रामा. ७१।१९-२०
७८. महाभारत आ. ८९।४३ ।।

परवर्ती प्रक्षेप है । ९ /९४ में बाल विवाहों का वर्णन मनु की पूर्व वर्णित मान्यताओं के विरुद्ध है । अधिक जानकारी के लिए भाष्य में उक्त श्लोक तथा ३ /४ श्लोक पर विस्तृत समीक्षा द्रष्टव्य है । यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध भी है । यही स्थिति अन्य अर्वाचीन वर्णनों की समझनी चाहिये ।

५. मनुस्मृति में विभिन्न जातियों के नाम —कुछ लोगों का कथन है कि मनुस्मृति में यवन, बाल्हीक, कम्बोज, चीन आदि जातियों का उल्लेख है । यवन, कम्बोज, गान्धार लोगों का विवरण प्रियदर्शी अशोक के पाचवें शिलालेख में भी आता है, अत : मनु तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व हो सकते हैं ।

मनुस्मृति में इन जातियों का उल्लेख १० /४३-४४ में आता है । दशम अध्याय का वर्णसंकरों का सम्पूर्ण प्रसंग परवर्ती प्रक्षेप है । यह मनु की पूर्ववर्णित मान्यता के विरुद्ध है । मनु ने चार वर्णों की व्यवस्था दी है, और स्पष्ट शब्दों कहा है कि पाचवां कोई वर्ण नहीं है [१ /३१, ८७-९१ ; १० /४ ।।] । वे इन्हीं वर्णों के धर्मों का विधान कर रहे हैं [१ /२] । इस प्रकार इन जातियों के उल्लेख का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता । जब मनु के समय में और उनके मतानुसार चार वर्णों को छोड़कर कोई जाति-उपजाति नहीं है, तो उस काल में इन जातियों के अस्तित्व का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता । उपर्युक्त दोनों श्लोकों में तो इन जातियों के शूद्र होने के कारण बताये हैं और भूतकाल का वर्णन है । इस वर्णन पद्धति से ही स्पष्ट है कि यह चतुर्वर्णव्यवस्था के लागू होने और फिर उसमें विकार आने के बाद की स्थिति का वर्णन है । इस प्रकार ये श्लोक मनुकालीन ही नहीं हैं ।

६. मनुस्मृति में इतरधर्मस्मृतियों का उल्लेख —

कुछ लोग १२ / ९५ श्लोक के **'या वेदबाह्या: स्मृतय:'** पदों से अन्य स्मृतियों का अनुमान करते हुए यह कल्पना करते हैं कि मनु का यह संकेत उस समय की बौद्ध, जैन स्मृतियों की ओर है ।

ऐसा सोचने वाले की यह कल्पना पूर्णत : निराधार है । यहां मनु का केवल इतना ही अभिप्राय है कि जो वेदानुकूल नहीं है, वह मान्य नहीं, चाहे वह किसी की रचना हो । क्योंकि, उन्होंने अपनी स्मृति को वेदानुकूल घोषित किया है और वेदों को ही धर्म का मूल स्रोत और परमप्रमाण माना है [२ /६, ८, ९, १०, ११, १२, १३ आदि] । १२ /९६ के **'उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च'** आदि वचनों से स्पष्ट है कि मनु वेदविरुद्ध विचार रखने वालों के लिए यह एक शाश्वत कथन कर रहे हैं । यदि बौद्ध, जैन आदि का उस समय अस्तित्व होता तो उन्हें उनका नामोल्लेख करने में क्या संकोच था ? जब इस तरह का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है तो निराधार कल्पना करने से कोई लाभ नहीं, भ्रान्ति ही पैदा होगी ।

७. मनुस्मृति और उसकी भाषा —

यह कहा जाता है कि मनुस्मृति की भाषा बड़ी सहज, सरल लौकिक भाषा है । वह पाणिनि के व्याकरण का अनुगमन करती है । अत : वर्तमान मनुस्मृति पर्याप्त अर्वाचीन है ।

यह ठीक है कि मनुस्मृति की भाषा सहज और सरल लौकिक भाषा है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इस कारण इसको अर्वाचीन भाषा कहा जाये । मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है, जिसका सम्बन्ध सर्वमान्य रूप से सभी जनों से है । इसमें लोगों के आचार-विचार से सम्बन्धित निर्देश हैं । अत : ऐसे ग्रन्थ की भाषा का सहज, सरल होना स्वाभाविक भी है, और आवश्यक भी । प्राचीन काल

में साहित्यिक भाषा के रूप में वैदिक भाषा का प्रयोग था तो व्यवहार में लौकिक संस्कृत का प्रयोग था ।

मनुस्मृति में कुछ पूर्वपाणिनीय प्रयोग भी मिलते हैं । इसमें पाये जाने वाले वैदिक प्रयोग और वैदिक प्रयोगशैली, इसे मूलत: पाणिनि पूर्व एवं वैदिककालीन संकलन सिद्ध करते हैं । यथा — (क) **'मेत्युक्त्वा'** [८।५७[**'मे + इत्युक्त्वा'** सन्धि पाणिनीय नहीं है । इसमें इकार का पूर्वरूप छान्दस है । (ख) **'हापयति'** [३ /७१] का 'छोड़ता है' अर्थ है । यहां प्रेरणार्थक न होकर प्रकृत्यर्थ (मूल अर्थ) में 'णिच्' छान्दस है । (ग) २ /१६९-१७१ श्लोकों में **'मौञ्जीबन्धन'** और **'मौञ्जिबन्धन'** पदों के प्रयोग में विकल्प से ह्रस्व छान्दस प्रयोग है । (घ) **'उपनयनम्'** के अर्थ में **'उपनायनम्'** प्रयोग [२ /३६] पूर्व पाणिनीय है । यहां दीर्घ को, पाणिनि ने व्याकरणसम्मत न होते हुए भी शिष्टप्रयोग मानकर **'अन्येषामपि दृश्यते'** [अ. ६ /३ /१३७] सूत्र में स्वीकार कर लिया है । (ङ) १ /२० में **'आद्याद्यस्य'** प्रयोग है । यह **'आद्यस्य-आद्यस्य'** होना चाहिये था किन्तु पहले **'आद्यस्य'** का सुप्लुक् छान्दस प्रयोग के कारण माना गया है ('सुपां सुलुक ...' अ. ०७ /१ '३९) । **(च) वैदिक भाषा की प्रयोग शैली —/आ हैव स नखाग्रेभ्य:'** [२ /१६८], **'पुत्रका इति होवाच'** [२ /१५१] आदि ।

इसकी भाषा के विषय में एक संभावना यह भी दिखायी पड़ती है कि पहले इसमें वैदिक प्रयोगों की अधिकता थी, जो धीरे-धीरे बदली जाती रही । क्योंकि यह सर्वसामान्य जनों से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ था, अत: इसकी भाषा में भी समयानुसार परिवर्तन होता रहा । ऐसे उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं, जिनसे यह संभावना पुष्ट होती है । वाल्मीकि रामायण के दाक्षिणात्य, वंगीय और उत्तरपश्चिमोत्तरीय, ये तीन संस्करण प्रसिद्ध हैं एवं प्रचलित हैं । इनमें दाक्षिणात्य पाठ में अभी भी वैदिक प्रयोगों का बाहुल्य है, जबकि अन्य संस्करणों में अधिकांश को बदलकर लौकिक कर दिया गया है । यही स्थिति मनुस्मृति के साथ भी संभव है । ऐसा इसलिए भी संभव प्रतीत होता है कि कालक्रम की दृष्टि से मनु सब ऋषियों से प्राचीन हैं और उनकी स्मृति सर्वाधिक प्रसिद्ध रही है । फिर उनकी स्मृति का संकलन पर्याप्त अर्वाचीन समय में हुआ हो, यह बात बुद्धिसंम्मत नहीं लगती । कुछ आधुनिक विद्वानों की यह मान्यता और भी विचित्र लगती है कि 'मनु से उत्तरवर्ती वसिष्ठ, गौतम आदि ऋषियों की स्मृतियां मनुस्मृति से प्राचीन हैं, 'उनका संकलन पहले हो चुका था, आदि । यदि भाषा की दृष्टि से इन स्मृतियों में कुछ पूर्वापर क्रम अनुभव भी होता है तो उसका कारण उनकी प्राचीनता और मनुस्मृति की नवीनता नहीं, अपितु मनुस्मृति के बहुप्रचलित और सामान्यजनों के व्यवहारोपयोगी होने के कारण समय-समय पर उसकी भाषा में और प्रयोगों में किया गया परिवर्तन है । अन्य स्मृतियों में, उनकी अप्रसिद्धि और अल्पप्रचलन के कारण ऐसा कम हो पाया है ।

६. मनुस्मृति का आद्यरूप

मनुस्मृति का आद्यरूप क्या रहा होगा? इस प्रश्न पर विचार करते हुए विचारकों ने कई मत प्रस्तुत किये हैं। कोई इसका आदिरूप गद्यबद्ध मानते हैं, कोई सूत्रबद्ध, तो कोई पद्यबद्ध मानते हैं। मेरा विचार है कि इसकी शैली से इस प्रश्न का जो समाधान मिलता है, वह अधिक संतोषजनक एवं प्रामाणिक है। मनुस्मृति की शैली पर इस अध्याय के मध्य में (मनुस्मृति का रचयिता कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में) पर्याप्त विस्तार से सप्रमाण प्रकाश डाला जा चुका है। उस निष्कर्ष के अनुसार मनुस्मृति, मूलत: मनु के प्रवचन हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया है। आदि से अन्त तक मनुस्मृति की प्रवचनशैली और संकलित रूप है। निरुक्त के प्रमाण से इस विचार को पुष्टि मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि प्राचीन काल में उपदेशों-प्रवचनों से ही शिक्षा दी जाती थी, लिपिबद्ध ग्रन्थों को पढ़ाकर नहीं। जब लोग उपदेशों से प्रमाद करने लगे तो ग्रन्थों का निर्माण हुआ और उनके माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी।[७८]

१. प्रवचन गद्यरूप में ही होते हैं। अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का आद्यरूप गद्यरूप था। गद्यरूप से इसे पद्यबद्ध किया गया।

इसकी पुष्टि के लिए शैली के अतिरिक्त मनुस्मृति के अन्य दो अन्तरंग प्रमाण भी मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि यथावत् रखने में कुछ कठिनाई आयी तो उस क्रम को बदल दिया गया अथवा क्रम बदल गया। यदि मूलरूप पद्यबद्ध होता तो जिस क्रम से विषयों का परिगणन किया गया है, उसी क्रम में उनकी व्याख्या होती। यथा — (क) ८/६ में अठारह मुकदमों का परिगणन करते हुए '**पारुष्ये दण्डवाचिके**' पदप्रयोग करते हुए 'दण्ड की कठोरता' और 'वाणी की कठोरता' इस क्रम से इन अभियोगों का वर्णन है। किन्तु इनकी विस्तृत व्याख्या में पहले '**वाक्पारुष्य**' का वर्णन है [८/२६६–२७७], फिर '**दण्डपारुष्य**' का [८/२७८–३००]। इस प्रकार क्रम बदल गया। शायद यह क्रम छन्द-आग्रह के कारण बदलना पड़ा।

यद्यपि टीकाकारों ने इसका व्याकरणसम्मत समाधान प्रस्तुत किया है कि '**अल्पाच्तरं पूर्वम्** [अ. २/२/३४] के नियमानुसार 'अल्पाच्' होने के कारण छन्द में दण्ड का परिगणन पहले किया है। इसे मानने में कोई आपत्ति भी नहीं है। किन्तु जहां इनका व्याख्याक्रम एक निर्धारित शृंखला में है, तो उस क्रम को तोड़कर 'अल्पाच्' को महत्त्व देने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। स्वतन्त्र परिगणन में ही यह नियम समीचीन कहलायेगा। ऐसा लगता है कि यदि इस नियम के बिना उपयुक्त क्रम में '**वाग्दाण्डिके**' प्रयोग द्वारा इन्हें रखा जाता तो छन्दोभंग अवश्य होता। शायद इसी विवशता के कारण उसका क्रम बदलकर 'दण्डवाचिके' प्रयोग करना पड़ा।

(ख) १२/८३ में छह नि:श्रेयसकर कर्मों का परिगणन इस क्रम से है — **वेदाभ्यास**, तप, **ज्ञान**, **इन्द्रियसंयम**, **धर्मक्रिया** और **आत्मचिन्ता**। किन्तु इनकी व्याख्या का क्रम इस प्रकार है — **आत्मज्ञान** [१२/८५-९२] **शम** = इन्द्रियसंयम [१२/९२], **वेदाभ्यास** [१२/९२-१०२], **तप और ज्ञान** = विद्या [१२/१०४], **धर्म** [१२/१०५-११५]। लगता है, इनकी व्याख्या का क्रम गद्यरूप में इसी क्रम से था, किन्तु छन्दोबद्ध करते समय परिगणन

---

७८. निरु. १।१९॥ 'मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता' शीर्षकान्तर्गत पूर्व उद्धृत।

वाले श्लोकों में इसी क्रम से छन्दरचना न बन पाने के कारण यह क्रम बदलना पड़ा।

२. मनुस्मृति का आद्यरूप सूत्रबद्ध नहीं था। सूत्रबद्ध होने की पुष्टि न तो इसकी शैली से होती है, और न मनु के उद्धरण ही कहीं सूत्ररूप में प्राप्त होते हैं। यह भी कि सूत्रग्रन्थों के साथ प्राय : 'सूत्र' पद जुड़ा होता है। प्राचीन ग्रन्थों से लेकर अब तक उनमें मनु के शास्त्र का 'मानवधर्मशास्त्र या 'मनुस्मृति' के नाम से उल्लेख मिलता है, न कि 'मानवधर्मसूत्र' नाम से।

३. 'मानवधर्मसूत्र' नामक ग्रन्थ को कुछ लोग मनुरचित मानते हैं, लेकिन मनुस्मृति से उसका पूर्ण साम्य नहीं है। उस सूत्रग्रन्थ को किसी बहुत बाद के व्यक्ति ने मनु के नाम से रचा है, और वह भी अपने विचारों का मिश्रण करके। यह सूत्ररूप आद्यरूप नहीं है। यह तो पद्यरूप को देखकर रचा गया है, अथवा आद्य गद्यरूप को देखकर।

४. ग्रन्थों की सूत्रशैली अधिक प्राचीन नहीं है, अपितु गद्य और पद्यरूप ही अधिक प्राचीन हैं। सूत्रों से प्राचीन ग्रन्थ गद्यरूप में उपलब्ध होते हैं, जैसे— ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् आदि। वर्तमान महाभारत कईस्थलों पर गद्यरूप में है। अन्य अर्वाचीन ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र, नारदगद्यस्मृति आदि गद्यरूप में ही हैं। अत : मनुस्मृति का प्रारम्भिक रूप गद्यरूप होना माना जा सकता है।

५. ऐसी परम्परा प्रत्येक काल में रही है कि महापुरुषों ने प्रवचन या उपदेश दिये हैं और उनके शिष्यों ने उनका संकलन करके गद्य या पद्य का रूप दिया है। प्राय : सभी धर्मों के ग्रन्थ उनके मान्य पुरुषों के उपदेश हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया है। महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिये थे, लेकिन उनका संकलन 'धम्मपद' के नाम से पद्यरूप में हैं। कहा जाता है कि यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के नाम से मिलने वाले ग्रन्थ उनके शिष्यों द्वारा संकलित हैं। महर्षि दयानन्द के नाम से मिलने वाली 'उपदेश मञ्जरी' या 'पूना प्रवचन' नामक पुस्तक मूलत : उनके उपदेश हैं, जो अन्य व्यक्ति द्वारा संगृहीत और सम्पादित हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति का संकलन हुआ है।

६. सुनिश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि मनु के गद्यरूप प्रवचन, पद्यरूप में कब आये। किन्तु प्राप्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का यह पद्यरूप भी अतिप्राचीन है। मनुस्मृति में भृगु का नाम बार-बार आता है। हो सकता है, मनु के शिष्य भृगु ने ही इन्हें पद्यबद्ध किया हो और यह भी संभव है कि संकलन के अनन्तर स्मृति-सुविधा के लिए मनु के आदिशिष्यों ने इन्हें पद्यबद्ध किया हो। यहपद्यरूप भी काफी प्राचीन है क्योंकि मनु के नाम से बहुत पहले ही यह रूप प्रसिद्ध हो चुका था। क्योंकि रामायण,[७९], महाभारत[८०] में मनु के द्वारा ही श्लोक गाये जाने का कथन है। इसका अभिप्राय यह है कि इन ग्रन्थों के रचनाकाल में इन श्लोकों की मनु के नाम से प्रसिद्धि हो चुकी थी।

७. नारद स्मृति की भूमिका में आता है कि मनु ने एक धर्मशास्त्र बनाया था जिसमें एक लाख श्लोक थे। १०८० अध्याय और २४ प्रकरण थे। नारद ने इसका १२००० श्लोकों में संक्षेप करके इसे मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कण्डेय ने इसका संक्षेप ८००० श्लोकों में कर दिया। फिर सुमति भार्गव ने इसे ४००० श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया। नारदस्मृति का यह अवतरण ग्रन्थ के महत्त्ववर्धन के लिए ही है। इस प्रकार संक्षेप किया जाना मौलिकता के अनुरूप नहीं है। न ऐसी कोई प्रामाणिक शास्त्रीय परम्परा ही है।

---

७९ ''श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।'' वा. रामा. १८।३० ॥

८० 'मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना।'' महा. शा. ५६।२४ ॥

द्वितीय अध्याय

[मनुस्मृति और प्रक्षेप—प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता, प्रक्षेप-लक्षण, प्रक्षेप कैसे हैं ?, निहित प्रवृत्तियां, मानदण्ड और प्रक्षेपों से हानि]

१. मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता एवं उपयोगिता

मनुस्मृति क स्वरूप को प्रक्षेपों से विकृत देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि इसके प्रक्षेपों का अनुसंधान किया जाये । प्रक्षेपों के अनुसन्धान और उनके पृथक्करण से ही मनुस्मृति का वास्तविक श्रेष्ठरूप प्रकाश में आयेगा । यह अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होगा —इस अनुसन्धान से जहां एक ओर साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य यह होगा कि भारतीय साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होगा, वहां आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति चाहने वाले या अपने जीवन को सन्मार्ग पर ले चलने वाले व्यक्तियों के लिए भी यह भ्रान्तिरहित रूप में पथ-प्रदर्शन करने वाला सिद्ध होगा । सांस्कृतिक दृष्टि से —मनुकालीन भारतीय समाज और संस्कृति की सही झांकियों को प्रस्तुत करेगा और वर्तमान समाज को अच्छी मर्यादाओं तथा व्यवस्थाओं का दिग्दर्शन करायेगा । सबसे अधिक लाभ ऐतिहासिक दृष्टि से यह होगा कि प्रक्षिप्तांशों से दूषित मनुस्मृति को आधार बनाकर इतिहासकारों नें प्राचीन काल का जो इतिहास लिखा है, जिसमें मांसभक्षण, पशुयज्ञ, जाति-पांति, छुआ-छूत, ऊंच-नीच जैसी घिनौनी बाते हैं ; उस इतिहास का शुद्ध, उज्ज्वल और वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आयेगा । इस प्रकार मनुस्मृति पर अनुसन्धान कार्य होने से आध्यात्मिक व्यक्तियों के लिए ; भारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के लिए, बहुत बड़ा योगदान होगा । प्राचीन साहित्य, जो कि भारत की एक अमूल्य और गौरवपूर्ण निधि है ; उसके एक विशिष्ट ग्रन्थ का उचित मूल्यांकन हो सकेगा ।

और, मनुस्मृति से सम्बन्धित आन्तरिक समस्याओं, जैसे — रचयिता, रचनाकाल मौलिक मान्यताएं, आदि को सुलझाने में भी न्यूनाधिक रूप में सहयोग अवश्य प्राप्त हो सकेगा ।

२. प्रक्षेप से अभिप्राय

प्रक्षेप का अर्थ है — 'बीच में की गई मिलावट' । किसी व्यक्ति द्वारा लिखे गये मूल ग्रन्थ मे अन्य द्वारा मिलाये गये विचारों को 'प्रक्षेप' या 'क्षेपक' कहा जाता है । मनुस्मृति में वे श्लोक जो मनु से भिन्न व्यक्तियों ने रचकर मिला दिए हैं, उनको 'प्रक्षिप्त' माना गया है । यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप 'विरोधी विचारों' से युक्त अथवा बुरा ही हो, वह ग्रन्थकार के समर्थक विचारों वाला और अच्छे विचारों का भी होता है ।

३. क्या मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं ?

कुछ व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं मानते । उनका विचार है कि मनुस्मृति का यह उपलब्ध स्वरूप वास्तविक है । किन्तु उनका यह विचार पूर्णत: भ्रान्तिपूर्ण है । उपलब्ध मनुस्मृति को देखकर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इसमें प्रक्षेपों की भरमार है और ये प्रक्षेप एक साथ न होकर समय-समय पर हुए हैं । इसकी सिद्धि के लिए निम्न युक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं —

(१) उपलब्ध मनुस्मृति में विषय-विरुद्ध, परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध तथा अनेक पुनरुक्तियां पायी जाती हैं । आश्चर्य की बात तो यह है कि कहीं-कहीं तो त्रिकोणात्मक 'परस्पर विरोध' भी है ; या पहले श्लोक में जो विधान है, उससे अगले ही श्लोक में उसका विरोध है । इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को देखकर भी यह कहना कि मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं, दुस्साहस और मिथ्या-आग्रह ही कहलायेगा । एक मध्यमस्तरीय लेखक की रचना में भी ये त्रुटियां नहीं होतीं । उसके लेखन में वैचारिक ऐकमत्य, विषय और प्रसंग की सुसंगति, अविरोध तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है । फिर मनुसदृश तत्त्वद्रष्टा विद्वान् की रचना में इस प्रकार की त्रुटियों का होना सर्वथा असम्भव है । महर्षि मनु अपने समय के सर्वाधिक प्रख्यात और धर्म-सम्बन्धी विषय के मर्मज्ञ विद्वान् थे । इसी कारण ऋषि लोग जिज्ञासा के समाधान के लिए एकत्रित होकर उनके पास आये थे । वे निवेदन करते हुए कहते हैं —

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ।।
त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।। (१।२, ३ ।।)

अर्थात् — हे भगवन् ! आप सब वर्णों और आश्रमों के धर्मों को ठीक-ठीक बतलाने में समर्थ (योग्य) हैं । और क्योंकि ईश्वररचित, अचिन्त्य और अपरिमित ज्ञान से युक्त वेदरूपी विधान के धर्मतत्त्व (व्यावहारिक तत्त्व) तथा अर्थ के जानने वाले आप ही एक मात्र विद्वान् हैं (अत: आप हमें इन धर्मों का उपदेश कीजिये) ।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि मनु अपने समय के प्रख्यात एवं इस विषय के सबसे अधिक अधिकारी विद्वान् थे । अत: ऐसे विद्वान् की रचना में उक्त प्रकार की त्रुटियां नहीं हो सकतीं । फिर भी उक्त त्रुटियां पाई जाती हैं तो इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं । (इनके उदाहरण द्वितीय अध्याय में 'प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और प्रमाण' शीर्षक के अन्तर्गत देखें) ।

(२) मनुस्मृति में एक ओर तो गम्भीर, युक्तियुक्त, साधार, दुराग्रह एवं पक्षपातरहित अरूढ़ तथा संतुलित शैली है ; वहीं बीच-बीच में अतिसामान्य, अयुक्तियुक्त, निराधार, अतिशयोक्तिपूर्ण, दुराग्रह एवं पक्षपातपूर्ण तथा रूढ़ शैली के श्लोक भी आ जाते हैं । नि:सन्देह, उक्त विरोधी भिन्नताएं एक ही रचयिता की शैली में नहीं हो सकतीं । स्पष्ट है कि दूसरी शैली की रचनाएँ मनुसदृश विद्वान् द्वारा रचित न हो कर अन्यों द्वारा रचित हैं, अत: वे प्रक्षेप हैं ।

(३) मनुस्मृति में मनु से परवर्ती व्यक्तियों, जातियों एवं स्थानों के उल्लेख हैं । इसी प्रकार कहीं-कहीं मनु द्वारा निर्धारित मौलिक व्यवस्थाओं से भिन्न व्यवस्थाओं का वर्णन है । किसी-किसी श्लोक में **''मनुरब्रवीत्''** **''मनोरनुशासनम्''** आदि पदों का प्रयोग है, जो स्पष्टत: अन्य रचयिता की ओर संकेत करता है । इस प्रकार के सभी श्लोक परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं । वे किसी

भी अवस्था में मनु द्वारा स्वयंप्रोक्त नहीं कहला सकते ।

(४) मनुस्मृति की उपलब्ध प्रतियां भी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रत्यक्ष प्रमाण देती हैं । बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो प्राचीन प्रतियों में नहीं किन्तु अर्वाचीन प्रतियों में है । ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि उत्तरकालीन प्रतियों में श्लोकों की संख्या बढ़ती ही गई है । जब प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में ही यह हाल है तो व्यतीत दीर्घकाल में प्रक्षेप न हुए हों यह कैसे हो सकता है ? उदाहरण के रूप में कुछ श्लोक प्रस्तुत हैं —

(क) निम्न श्लोक द्वितीय अध्याय में अठारहवें श्लोक के पश्चात् केवल मेधातिथि के भाष्य में ही पाया जाता है —

विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषाऽसम्भवश्रुति : ।।

अर्थ — निर्दिष्ट कारण में प्रत्यक्ष से विरुद्ध, असंगत एवं असम्भव अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृति वेद-विरुद्ध स्मृति कहलाती है ।

(ख) निम्न श्लोक मेधातिथि आदि तीन प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य में नहीं हैं, उनसे अर्वाचीन अन्य प्रतियों में ही पाया जाता है ; जो इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि उनके भाष्यों के पश्चात् ही प्रक्षेप के रूप में डाला गया है—

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधि : ।।

(मनु. २।५२ के पश्चात्)
(इस संस्करण में २।२७ के पश्चात्)

अर्थ — स्मृति ने द्विजों के लिये अग्निहोत्र के समान प्रात : और सायं दो बार ही भोजन करने का विधान किया है । बीच में भोजन कभी न करें ।

(ग) मनुस्मृति की लगभग ३० — ३५ प्रतियाँ हस्तलिखित रूप में विभिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं । उनमें बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो थोड़ी ही प्रतियों में पाये जाते हैं । ऐसे भी श्लोक पर्याप्त हैं जो केवल एक-एक प्रति में ही प्राप्त हैं, यथा —

निम्न श्लोक प्रयाग की एक ही प्रति में है —

परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।
दुष्टानुचारा च गुरोरिह वाऽमुत्र चैत्यध : ।।

(२।२०० के पश्चात् इस संस्करण में २।१७५ के बाद)

अर्थ — शिष्य पीठ पीछे गुरु का नाम सत्कार पूर्वक ले और सामने किसी भी प्रकार न लेवे । गुरु से दुष्टाचरण करने वाला शिष्य दोनों लोकों में अधोगति को प्राप्त करता है ।

(घ) ऐसे ही कुछ श्लोक —

येऽप्यतीता : स्वधर्मेभ्य : परपिण्डोपजीविन : ।
द्विजत्वमधिकांक्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत् ।।

(८।१०२ के पश्चात्)

अर्थ — जो अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरे के टुकड़ों पर जीते हैं और अपने आपको द्विज कहलाना चाहते हैं, उनके साथ शूद्रों के समान व्यवहार करे ।

तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः ।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ।।
(११।३३ के पश्चात्)

अर्थ — ब्राह्मण की वाणी का अस्त्र वह अस्त्र है, जिसे कोई भी वर्णस्थ व्यक्ति अपने सामर्थ्य से नहीं हटा सकता । और यह अस्त्र तप की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण न मारने योग्य शत्रुओं को भी मार देता है ।

(५) प्रतीत होता है कि अन्य पुस्तकों से लेकर भी कुछ श्लोक मनुस्मृति में मिला दिये हैं । महाभारत (अश्वमेध पृ. ३८० पूना प्रकाशन) का निम्न श्लोक मनुस्मृति की केवल चार प्रतियों में ही उपलब्ध होता है, जो अप्रासंगिक रूप से मिलाया गया है —

पुराणं मानवो धर्मः सांगोपांगचिकित्सकः ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।।
(१२।११० के पश्चात्)

अर्थ — पुराण = ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुप्रोक्तधर्म, अंग सहित उपांगों का विद्वान् चिकित्सक और साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध, इन चार बातों को तर्क से नहीं काटना चाहिए ।

यह श्लोक इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं । अभी तक यह मनुस्मृति के श्लोकों में सर्वसम्मत रूप से घुल-मिल नहीं पाया है । अतएव इसे कोष्ठक में दिया जाता है ।

(६) प्रक्षेपकर्ताओं ने न केवल नवीन श्लोक ही क्षेपक के रूप में डाले हैं, अपितु अभीष्ट ढंग से पाठभेद भी किये हैं । कुछ पाठभेद तो प्रतिलिपि में प्रमाद, अथवा असावधानी के कारण हो सकते हैं, लेकिन बहुत सारे पाठभेद तो जानबूझकर किये गये हैं । निम्न पाठ भेदों के उदाहरण इस बात के पोषक हैं —

(क) दशम अध्याय में वर्णित वर्णसंकरों के धर्म मनुप्रोक्त अर्थात् मौलिक नहीं हैं । वे श्लोक उस परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं, जब वर्णव्यवस्थाओं में विकृति आकर जाति-पांति की परम्परा चल पड़ी थी । संकर जातियों को हेय माना गया और उनके भी कर्तव्य गढ़कर (जो कर्त्तव्य न होकर घृणित निन्दित विकृतियां हैं) मनुस्मृति में मिला दिये गये और उन्हें मौलिक सिद्ध करने के लिए १।२ में '**अन्तरप्रभवाणाम्**' पद के स्थान पर '**संकरप्रभवाणाम्**' पद डाल दिया गया । यह पाठभेद दो-चार हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता है । यद्यपि टीकाकारों ने '**अन्तरप्रभवाणाम्**' का अर्थ भी 'वर्णसंकर' किया है, किन्तु यह भी सर्वथा गलत है । इसका सही अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिए (इसके लिए देखिए १।२ पर 'अनुशीलन' नामक समीक्षा) । शायद पहले उक्त पद का सही अर्थ 'आश्रम' ही प्रचलित था, प्रक्षेपकर्ता ने उसे जड़-मूल से हटाने का प्रयास किया । वह तो नहीं हट पाया किन्तु उस पाठभेद से टीकाकारों में यह भ्रान्ति पनप गई कि वे '**अन्तरप्रभवाणाम्**' का ही 'वर्णसंकर' अर्थ करने लग गये ।

(ख) इसी प्रकार १२।८२ में '**धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च**' के स्थान पर '**अहिंसा गुरुसेवा च**' पाठ कर दिया गया है । यह,गुरु को महत्त्व मिलता रहे, इस प्रवृत्ति से किया गया । यह पाठ मनुस्मृति के प्रसंगानुकूल नहीं है —(अ) इस ८३वें श्लोक में निःश्रेयसकर कर्मों की परिगणना है । परिगणना के बाद इन छह कर्मों के विषय में १२।८५-११५ श्लोकों में व्याख्यान है । उस व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु आत्मज्ञान और धर्मक्रिया का है । (आ) मनु ने सात्विक कर्मों को ही निःश्रेयसकर्म माना है । इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो नहीं हैं, केवल

इन्हीं दो में पाठभेद कर दिया गया है। सात्विक कर्मों का वर्णन १२।३१ में है। वही पाठ यहां ग्रहण करना मनुसम्मत एवं मौलिक पाठ है और वही मुक्ति दायक हैं। इस प्रकार **'अहिंसा गुरुसेवा च'** पाठ परिवर्तित पाठ है।

(ग) इसी प्रकार ५।५७ श्लोक के प्रथम पाद में **'प्रेतशुद्धिम्'** पाठ प्रचलित संस्करणों में प्रचलित है। इसके स्थान पर **'देहशुद्धिम्'** पाठ होना चाहिये, ऐसा मनु की शैली और विषयविवेचन से संकेत मिलता है। प्रतीत होता है कि अन्य प्रक्षेपों के समान कालान्तर में जब प्रेत-जन्म आदि में शुद्धि-क्रिया एक कर्मकाण्ड का रूप ले गयी,तब यह पाठभेद करके प्रेतादि विषयक श्लोक मिला दिये गये। इस पाठ की अमौलिकता और **'देहशुद्धिम'** पाठ की मौलिकता निम्न प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध होती है —(अ) मनु की यह शैली है कि वे जिस विषय का प्रारम्भ जिस विषय-संकेत से करते हैं उसी संकेत से उसकी समाप्ति करते हैं [द्रष्टव्य ३।२८६ और ४।२५९ ।। ८।१ और ९।२५० ।। १०।१३१ और ११।२६६ आदि], लेकिन यहां उस शैली से विपरीत, विषय का प्रारम्भ प्रेतशुद्धि से दर्शाया गया है [५।५७] और समाप्ति **'शारीरशुद्धि'** से [५।११०]। विषय समाप्ति सूचक श्लोक के पदों से यह सिद्ध होता है कि यह **'शारीरशुद्धि'** का विषय था न कि प्रेतशुद्धि का। अत : इस श्लोक में समानार्थक 'देहशुद्धि' शब्द ही मनुसम्मत सिद्ध होता है। (आ) मनु ने इस प्रसंग का वर्णन भी देह [५।१०५], गात्र [५।१०९], शरीर [११०] आदि शब्दों से किया है, जो यह सिद्ध करता है कि यह वर्णन प्रेतविषयक नहीं अपितु देहशुद्धि-विषयक है। (इ) प्रचलित पाठ के अनुसार यदि प्रेतशुद्धि पाठ को सही मानकर यहां इसी विषय का प्रसंग मान लिया जाये तो यह आपत्ति आती है कि प्रेतशुद्धि-विषय में दन्तोत्पत्तिकालीन शुद्धि, सूतकशुद्धि, मन, आत्मा आदि की शुद्धि का वर्णन क्यों किया ? प्रेत के मन और आत्मा होते ही नहीं। इस प्रकार विषयसंकेतक श्लोक में और वर्णन में तालमेल का न होना भी यह सिद्ध करता है कि प्रक्षेपों का समायोजन करने के लिये यह पाठभेद बाद में किया गया है। शैलीश्रृंखला में जुड़ा हुआ पाठ **'देहशुद्धिम्'** ही है, और मन तथा आत्मा आदि शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं। अत : इसी पाठ को मान्य पाठ के रूप में स्वीकार किया है।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति में पाठभेदों के रूप में भी प्रक्षेप किये गये हैं। इस प्रकार के पाठभेद अन्य स्थानों पर भी हैं।

(७) मनुस्मृति का अध्यायविभाजन मौलिक अर्थात् मनुकृत नहीं है। यह परवर्तीकाल में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया है (इसके विषय में विस्तार से जानने के लिए देखिए — 'मनुस्मृति में अध्यायविभाजन' शीर्षक)। विभाजन करते समय अध्यायों की समाप्ति में एकरूपता लाने के लिए विभाजनकर्त्ता अथवा किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने मनुस्मृति में कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किये हैं, जैसे प्रथम अध्याय में १११ से ११८ श्लोकों में विषय-सूची जोड़ दी, अष्टम अध्याय के अन्त में उस विषय के बीच में ही विषयसमाप्तिसूचक श्लोक एकरूपता लाने के लिए भ्रान्तिवश डाल दिया (८।४२०), आदि। यह परिवर्तन व परिवर्धन मनुस्मृति के प्रसंगों एवं शैलियों से ज्ञात हो जाता है। यह परिवर्तन इस बात का संकेत देता है कि मनुस्मृति में परवर्ती लोगों ने मनमाने ढंग से श्लोक मिलाये हैं। इससे यह स्पष्टत : सिद्ध है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं।

(८) मनुस्मृति में पाये जाने वाले 'अवान्तरविरोध' भी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रमाण देते हैं। एक ही प्रक्षिप्त प्रसंग में जो परस्पर अनेक विरोध हैं, उन्हें 'अवान्तरविरोध' कहा गया है। एक ही

प्रक्षिप्त प्रसंग में जो अनेक विरोध या भिन्न-भिन्न मान्यताएं मिलती हैं उनके विश्लेषण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं — (१) अनेक विरोधों या मान्यताओं वाले प्रसंग किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकतीं, (२) ऐसे विरोधात्मक और विभिन्न मान्यतात्मक वर्णन मनु सदृश तत्त्वद्रष्टा ऋषि की रचनाएं नहीं हो सकतीं, (३) ये भिन्न-भिन्न मान्यताएं भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा डाली गयी हैं, (४) और भिन्न-भिन्न कालों में (जब जैसी मान्यता का प्रचलन हुआ) मिलायी गयी है (५) जहां विभिन्न-विरोधी मान्यताएँ अधिक हैं, इसका मतलब वे उतने ही अधिक विवादास्पद विषय थे, और विवादास्पद विषयों में ही लोगों को मान्यता परिवर्तित करने का तथा अपनी मान्यता लागू करने का अधिक ध्यान रहता है। इन तथ्यों से यह बात सिद्ध हुई कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हुए हैं और वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में किये गये हैं। इस अवस्था को देखकर प्रक्षेपों से नहीं नकारा जा सकता।

(९) सभी भाष्यकारों ने न्यूनाधिक रूप में मनुस्मृति में प्रक्षेप होना स्वीकार किया है, उनमें कुल्लूकभट्ट ने सम्पूर्ण मनुस्मृति में १७० श्लोक प्रक्षिप्त माने हैं, अतएव उन्हें बृहत्कोष्ठकों एवं भिन्न संख्याओं में दिया है। परवर्ती सभी पौराणिक पण्डितों ने उन प्रक्षेपों को यथावत् स्वीकार किया है। कुल्लूकभट्ट और उससे परवर्ती अन्य तदनुसारी टीकाकारों-भाष्यकारों ने जो प्रक्षिप्त श्लोक स्वीकार किये हैं उनका अध्यायानुसार विवरण निम्नप्रकार है —

प्रथम	अध्याय में	—११
द्वितीय		—११
तृतीय		— २१
चतुर्थ		—१९
पंचम		—२२
षष्ठ		— ६
सप्तम		—१६
अष्टम		—३०
नवम		— ६
दशम		— २
एकादश		—१४
द्वादश		—१२
प्रक्षिप्त श्लोकों की कुल संख्या		—१७०

इसी प्रकार मनुस्मृति पर कार्य करने वाले बूलर और जौली सदृश पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेप स्वीकार किये हैं और कुछ प्रक्षेपों को पृथक् दर्शाया भी है। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों की ओर विशेष रूप से सबसे पहले ध्यान आकृष्ट किया। उनके पश्चात् इस दिशा में आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं। इस प्रकार सिद्धान्ततः सभी वर्गों के व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेपों को स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न केवल प्रक्षिप्त और मौलिक श्लोकों के पृथक्करण और उनके मानदण्डों का रह जाता। इस विषय में आगे विचार किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन एवं युक्तियों से यह निश्चित हो जाता है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप अवश्य हैं । ये प्रक्षेप समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं । क्योंकि मनुस्मृति की भाषा सरल और लोकप्रचलित भाषा है, अत : उसमें आसानी से श्लोक मिल जाते हैं और भाषा में विशेष अन्तर प्रकट नहीं हो पाता । फिर भी विशेष अध्ययन से भाषा की प्रयोग-शैली के आधार पर कुछ प्रक्षिप्तों का ज्ञान हो जाता है ।

४. ग्रन्थों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति और मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में निहित प्रवृत्तियाँ —

प्रक्षेप की समस्या लगभग सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के साथ है । स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, अपने विकृत आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए अथवा स्वाभिमत व्याख्या एवं विचारों की सिद्धि के लिए ग्रन्थों में प्रक्षेप करते रहे हैं । कभी-कभी किसी ग्रन्थ में संशोधन, परिवर्धन या व्यवस्थापन की प्रवृत्ति भी इसमें प्रमुख कारण बनती है । कभी-कभी ग्रन्थ के रूप को विकृत करना भी प्रक्षेपकर्त्ताओं का उद्देश्य होता है । इस प्रकार से ग्रन्थों में प्रक्षेप होते रहते हैं । प्राचीन काल में यह कार्य आसानी से हो जाता था, क्योंकि ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां होती थीं । जिसके पास जो प्रति हुई उसमें उसने मनमाने ढंग से प्रक्षेप कर दिया और अग्रिम प्रतियां उसके अनुसार तैयार करवा दीं । इसी प्रकार अग्रिम प्रतियों में प्रक्षिप्त श्लोक या विचार मिलते रहते थे । यही कारण है कि हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियों में परस्पर अन्तर और पाठभेद मिलते हैं । संस्कृत के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों, साहित्यिक काव्यों तथा अपभ्रंश और हिन्दी काव्यों, सभी की यह अवस्था है ।

वैसे तो प्राय : समस्त प्राचीन लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्रक्षेप हुए हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में प्रक्षेप करने की विशेष प्रवृत्ति रही है, क्योंकि उनके विधानों का व्यक्ति और समाज के साथ सीधा और प्रतिदिन का सम्बन्ध था । विधानों को बदलने और विकृत करने के लिए स्वार्थी लोगों ने अनेक जाली ग्रन्थों को रचने का भी प्रयास किया है । फिर प्रक्षेप करने से ऐसे लोग कैसे बाज आ सकते थे ? पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय ने मनुस्मृति की भूमिका में दो-तीन घटनाओं का विवरण दिया है । उनसे लोगों की प्रक्षेप करने की प्रवृत्तियों का और ग्रन्थों को विकृत करने के स्वार्थपूर्ण षड्यन्त्रों का ज्ञान हो जाता है । वे इस प्रकार हैं —

''हिन्दुओं में दायभाग का नियम बड़ा जटिल है । इसका यह कारण नहीं कि प्राचीन स्मृतियों का उद्देश्य ही इनको जटिल करना था । वस्तुत : उन्होंने तो सुगम और सरल नियम बनाये, पीछे से जटिलता आ गई । हिन्दू (आर्य) एक प्राचीन जाति है । समय-समय पर दायभाग के विषय में झगड़े हुए । भिन्न-भिन्न पक्षों ने अवश्य ही अपने-अपने पक्ष के लिए पंडितों से सहायता ली । इन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए प्रक्षिप्त डाल दिया । यह केवल कल्पना नहीं है किन्तु इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं । 'दत्तक मीमांसा' को नन्दपण्डित ने इसी उद्देश्य से बनाया था । यह बहुत थोड़े दिनों का ग्रन्थ ब्रिटिश-राज्य स्थापित होने से सौ-सवा सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है । ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में भूल से इसका अंग्रेजी में अनुवाद हो गया और अंग्रेजी न्यायालयों ने इसको प्रमाण मान लिया । इलाहाबाद हाईकोर्ट की पूरी सभा ने सर जान एज के सभापतित्व में एक फैसला दिया था । उसमें इस बात को विस्तार पूर्वक सिद्ध किया गया है कि नन्द पण्डित के क्षेपकों को आदर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये । कहते हैं कि 'दत्तक-मीमांसा' एक धेवते को दायभाग से वंचित करने के लिए लिखी गई थी ।

'दत्तक चन्द्रिका' एक दूसरी पुस्तक है, जिसके विषय में सभी बंगाली विद्वानों को पता है कि यह रघुमणि विद्याभूषण का बनाया हुआ जाल है । रघुमणि कोलब्रुक साहब के साथी थे । बंगाल के एक राजा थे । उन्होंने एक लड़का गोद रखा था । पीछे से उनके अपना लड़का हो गया । उनके मरने पर प्रश्न हुआ कि राजा का अधिकार किसको मिले । गोद में रखे हुए लड़के का पक्ष सिद्ध करने के

लिए रघुमणि महोदय ने पुस्तक लिख दी । यदि पुस्तक न होती तो पुराने विधान से एक तिहाई मिलता । यह मुकदमा आगे नहीं चला क्योंकि सन्धि हो गई । इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है —

र-म्यैषा चन्द्रिकादत्तपद्धतेर्दर्शिका ल-घु ।
म-नोरमा सन्निविशैरंगिणां धर्मतार-णि :

इन पंक्तियों के पहले और पिछले अक्षरों से 'रघुमणि' शब्द बनता है ।

१८३२ ई. में कलकत्ता संस्कृत कालेज के पण्डितों ने एक और जाल रचा । जैनियों का एक मुकदमा था । इनकी व्यवस्था मानी जाया करती थी । इन्होंने एव, पुस्तक लिखकर कालिज के पुस्तकाध्यक्ष को रिश्वत देकर पुस्तकालय के रजिस्टर में दर्ज करा दी । डाक्टर एच. एच. विल्सन कालेज के मन्त्री थे । उनको सन्देह हो गया । पुस्तक पकड़ी गई । पंडित महोदय ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया । इस दिन से वहां पंडितों से व्यवस्था देने का अधिकार छीन लिया गया (देखिये —सरकार शास्त्री लिखित 'हिन्दू ला' पृ. १८७) ।''

जिस व्यक्ति की प्रक्षेप करने की बदनीयत हो जाती है फिर वह किसी की अच्छाइ-बुराई, लाभ-हानि को नहीं देखता । वह केवल अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य को ही दृष्टिगत रखता है और उसकी पूर्ति के लिए सभी संभव दुष्कृत्य करता है । जैसे धन का लोभी व्यापारीजब मिलावट करने की प्रवृत्ति पर आ जाता है तो वह मनुष्यों के खाद्य-पदार्थों में कंकड़-मिट्टी, लकड़ी का बुरादा, गोबर, रंग, चर्बी, आदि अखाद्य, घृणित वस्तुओं की मिलावट करते समय नहीं हिचकिचाता । मिलावट से लोगों को होने वाली हानियों और कठिनाइयों की चिन्ता उसे छू तक नहीं पाती । वस्तु, समय और लालच के अनुसार वह मिलावट करता रहता है । यही अवस्था ग्रन्थों में प्रक्षेप की रहती है । प्रक्षेप करने से कितना भारी नुकसान हो सकता है, इसकी चिन्ता किये बिना प्रक्षेपक अपने उद्देश्यानुसार प्रक्षेप करते रहते हैं और ऐसा करने के लिये वे सभी प्रकार के हथकण्डे अपनाते हैं । कहीं नया श्लोक जोड़ दिया, कहीं सम्पूर्ण नया प्रसंग ही रचकर जोड़ दिया तो कहीं विरोधी मान्यता का प्रक्षेप कर दिया । कहीं मूल मान्यताओं की स्वाभिमत व्याख्या कर दी तो कहीं से श्लोक को निकाल दिया या पाठभेद कर दिया ।

ठीक यही अवस्था मनुस्मृति के साथ रही है । क्योंकि धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक मान्यता-प्राप्त ग्रन्थ था, अत : यह ग्रन्थ प्रक्षेप-कर्त्ताओं के षड्यन्त्रों और आक्रमणों का प्रमुख लक्ष्य रहा । प्राचीन काल से लेकर प्रकाशन युग तक मनुस्मृति में प्रक्षेपों की मिलावट होती आई है । जैसे-जैसे परम्पराएं शिथिल या विकृत होती गई, लोगों ने अपने आचरण या परम्पराओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति में तदनुरूप विचारों के प्रक्षेप कर दिये । स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ को साधने के लिए मिलावटें कीं । जब-जब धार्मिक या मत-मतान्तरों की उथल-पुथल हुई, उनका आक्रमण मनुस्मृति जैसे प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों पर विशेष रूप से हुआ और उन्हें विकृत करने के लिए मिलावटें की गई । मनुस्मृति के उन प्रक्षेपों के अनुसन्धान के लिए जहां एक ओर आधारों का निर्धारण करना आवश्यक है, वहां साथ ही प्रक्षेपों के मूल में निहित प्रवृत्तियों का अध्ययन-विश्लेषण करना भी आवश्यक है । क्योंकि व्यक्ति किसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही इस प्रकार का प्रयास करता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप विरोधी या स्वार्थपूर्ण ही होते हैं, समर्थन और प्रशंसा में भी प्रक्षेप होते हैं । स्वाभिमत विचारों को स्थान देने की प्रवृत्ति से या अभावपूर्ति की प्रवृत्ति से अच्छे विचारों के भी प्रक्षेप कर दिये जाते हैं । मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालते समय यह भी विचार किया गया है कि उनके मूल में प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति है

अथवा नहीं, और जहां कोई प्रेरक-प्रवृत्ति नहीं प्रतीत हुइ उन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया है। मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अध्ययन-विश्लेषण करने पर मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में जो प्रेरक-प्रवृत्तियां दृष्टिगत हुई वे निम्न हैं —

(१) मनुस्मृति को गौरव और महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में जहां कहीं भी इसकी प्रशंसा, महत्ता या विशेषताओं का वर्णन करने वाले श्लोक वर्णित हैं अथवा जहां इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ा गया है, वे सभी श्लोक इस परम्परा के शिष्यों या प्रशंसकों द्वारा इसके गौरव और महत्त्व को बढ़ाने की प्रवृत्ति से किये गये प्रक्षेप हैं। यह एक मान्य तथ्य है कि मनु सदृश सुलझा हुआ उच्चकोटि का ऋषि कभी स्वयं अपने ग्रन्थ की बढ़-चढ़कर प्रशंसा नहीं कर सकता। ये प्रशंसात्मक श्लोक परवर्ती हैं। मध्यकालीन सम्पूर्ण साहित्य में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है कि सभी विद्वानों ने अपने विषय का ब्रह्मा के साथ किसी न किसी प्रकार जुड़े होने का अवश्य उल्लेख किया है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र का उद्‌भव ब्रह्मा से माना है। महाभारत को पांचवां वेद घोषित किया गया। उस समय के समाज में इनसे जुड़े किसी भी शास्त्र को आसानी से मान्यता मिल जाती थी। मनुस्मृति में भी इस प्रकार के वर्णनों के मूल में यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। क्योंकि जहां भी इसे ब्रह्मा से जोड़ने का कथन है या उसकी प्रशंसा है, वे श्लोक प्रासंगिक और शैली के अनुरूप सिद्ध नहीं होते। तत्तत् स्थानों पर इस विषयक विस्तृत विवेचन किया हुआ है। यहां केवल कुछ उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं, जिनमें उपर्युक्त प्रवृत्ति लक्षित होती है —

(क) ब्रह्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाले श्लोक —

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।। (१।५८।।)

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिवत् मुझे उपदेश किया। फिर मैंने मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया।

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।। (११।२४३।।)

अर्थ — इस शास्त्र की रचना प्रजापति ने तप से ही की थी।

(ख) प्रशंसात्मक —

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ।। (१।१०६।।)

अर्थ — यह शास्त्र कल्याण करने वाला, श्रेष्ठ, बुद्धि बढ़ाने वाला, यश देने वाला, आयुवर्धक और परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाला है।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ।। (१२।१२६।।)

अर्थ — इस भृगुप्रोक्त धर्मशास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, वह सदाचारी बनता है और इच्छानुसार गति को प्राप्त करता है।

(२) मनु के व्यक्तित्व को अलौकिक सिद्ध करने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में स्वयं मनु की प्रशंसा या उल्लेख करने वाले श्लोक भी आते हैं। मनु के द्वारा समस्त स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति कहने (१।३५-४५) वाले श्लोकों के मूल में मनु के शिष्यों या पक्षधरों द्वारा उन्हें अलौकिक

व्यक्तित्ववाला पुरुष सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । इस प्रकार की अनर्गल बातें भी मनु स्वयं नहीं कह सकते ।

(३) ख्याति और महत्ता के लिए मनुस्मृति के साथ भृगु का सम्बन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में कहीं भी किसी भी रूप में भृगु के नाम का उल्लेख होना न तो शैली के अनुरूप ठीक जंचता है, न मनुस्मृति की मान्यताओं एवं प्रसंगों के अनुकूल । फिर भी कई स्थानों पर मनुस्मृति को भृगु के साथ जोड़कर बड़े अटपटे ढंग से इसे भृगु का प्रवचन जताया गया है । मनुस्मृति एक ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ था, समाज में इसकी सर्वोच्च मान्यता थी । प्रतीत होता है कि भृगु के शिष्यों ने भृगु की ख्याति और महत्ता के लिए या इसे 'भृगु-संहिता' बनाने के लिए उसके प्रवचनों या नाम को इसमें जोड़ दिया है । इस प्रकार के कुछ श्लोक हैं —

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ।। (१।५९ ।।)

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि मुझ से भृगुमुनि ने इस धर्मशास्त्र को पढ़ा है । ये भृगुमुनि आपको सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। (१।६० ।।)

अर्थ — तत्पश्चात् मनुजी के कहने पर भृगुमुनि प्रसन्न होकर उन सब ऋषियों को उपदेश देने लगे कि अब आप सब सुनें ।

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ।। (५।१ ।।)

अर्थ — महर्षियों ने स्नातक के पूर्वोक्त धर्मों को सुनकर अग्नि के समान प्रभावशाली, महात्मा भृगु से यह कहा ।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।। (१२।१२६ ।।)

अर्थ — इस भृगुप्रोक्त धर्म-शास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, (वह सदाचारी बनता है, इत्यादि) ।

(४) मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में कहीं-कहीं इस प्रकार के श्लोक भी हैं जिनमें मनु की मान्यता का खण्डन है । पहले मनु की मान्यता है, फिर उसका निषेधपूर्वक खण्डन है । ऐसे सभी श्लोकों के मूल में मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति है, यथा —

(क) ९।५९ से ६३ श्लोकों में नियोग का विधान है, किन्तु अगले ही ६४-६८ श्लोकों में निन्दा प्रदर्शनपूर्वक नियोग का निषेध है ।

(ख) ५।४५ से ५५ श्लोकों में मांसभक्षण का निषेध करते हुए मांसभक्षक को पापी माना है, किन्तु ५६वें श्लोक में ही मांसभक्षण, मदिरापान में कोई दोष नहीं होना कहा है ।

(५) स्वाभिमत मान्यताओं को उस शास्त्र के अनुकूल सिद्ध करने की प्रवृत्ति — क्योंकि मनुस्मृति एक प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य शास्त्र रहा है, इसलिए उसमें कोई मान्यता न हो तो लोग उसे स्वीकार करने के लिए शायद तैयार नहीं होंगे या उस मान्यता को पुष्ट करने के लिए मनुस्मृति का प्रमाण चाहेंगे, इस आपत्ति से मुक्त होने के लिए और अपनी मान्यता को मनुस्मृति सिद्ध

बनाने के लिए कुछ ऐसे प्रक्षेप किये गये हैं, जो उन स्थानों पर संगत भी नहीं हो रहे हैं और मनुस्मृति की मान्यता के अनुकूल भी नहीं जंचते । मनुस्मृति ने प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार आदि तत्त्वों की प्रक्रिया से सृष्टि-उत्पत्ति वर्णित की है (१।१४ —२१),किन्तु नवीन वेदान्तियों ने अपनी मान्यता को मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए मनुस्मृति की मौलिक मान्यता से पूर्व अण्डे के द्वारा ब्रह्मा की उत्पत्ति और ब्रह्मा से सारे संसार की उत्पत्ति वाली मान्यता का प्रक्षेप कर दिया (१।९, १२, १३, ३२ से ४५) । इस प्रकार के वर्णन अपनी मान्यता के प्रचार की दृष्टि से किये गये हैं ।

(६) स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने विचारों के प्रक्षेप की प्रवृत्ति — मनुस्मृति एक आध्यात्मिक और सात्त्विक गुणों का दिग्दर्शन कराने वाला शास्त्र भी है । लेकिन उसके उद्देश्य को देखे बिना, उसकी मान्यताओं से विरोध होते हुए भी स्वार्थी व्यक्तियों ने अपनी विकृत परम्पराओं, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को शास्त्रसम्मत बनाने की प्रवृत्ति से उनका प्रक्षेप किया है । श्राद्धवर्णन का प्रसंग, मांसभक्षण, मद्यपान, हिंसा, पशुयज्ञ, बहुविवाह आदि के विधान इसी प्रवृत्ति की उपज हैं । ऐसे प्रक्षेप अधिकांशत : वाममार्गियों द्वारा किये गये हैं,या ऐसे आचरण वाले लोगों द्वारा किये गये हैं ।

(७) पक्षपात की प्रवृत्ति — मध्यकाल में ब्राह्मणों का विद्या पर एकाधिकार हो गया था और शेष वर्ण अशिक्षा के कारण दिन-प्रतिदिन अज्ञानाश्रित हो गये । प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए ब्राह्मणों ने उचित-अनुचित को न देखकर अपनी सुविधा और सुख के अनुसार कर्त्तव्यों का विधान करना शुरू कर दिया और निम्नवर्णों पर अधिकाधिक बन्धन डाल दिये । इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण विचार भी मनुस्मृति में मिलते हैं । छुआछूत, ऊंच-नीच, स्त्री-शूद्रों के प्रति घृणा, निन्दा और दमन के विचारों वाले सभी श्लोकों में पक्षपात की प्रवृत्ति निहित है । ब्राह्मणों को विशेषाधिकार, विशेष महत्त्व और विशेष प्रशंसा इसी प्रवृत्ति से उपजी बातें हैं ।

(८) अभाव-पूर्त्ति की प्रवृत्ति —कोई भी शास्त्र या विधान अपने समय की व्यवस्थाओं या परिस्थितियों के अनुसार ही बनता है । समय बीतने पर कुछ नयी परम्पराएं, नयी समस्याएं या नयी बातें समाज में आ जाती हैं । किन्तु समाज प्रत्येक निर्णय के लिए उसी पुरातन शास्त्र की ओर देखता है । ऐसी अवस्था में उन अर्वाक्कालीन बातों के वर्णनाभाव को देखकर या किसी बात का वैसे अभाव अनुभव करके लोग शास्त्रों में मिलावट कर देते हैं । मनुस्मृति में भी इस प्रवृत्ति से अनेक प्रक्षेप हुए हैं —

(क) मनुस्मृति में युवावस्था में ही विवाह का वर्णन है, किन्तु परवर्ती काल में जब विधर्मी आक्रमणों या कुरीतियों के प्रभाव से लड़कियों का जीवन असुरक्षित जान पड़ने लगा तो बालविवाह की प्रथा प्रचलित हो गई । लोगों ने मनुस्मृति में उस विधान का अभाव देखकर उसे भी स्वयं जोड़ दिया —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर : ।। (९।९४ ।।)

अर्थ — गृहस्थ धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे ।

(ख) इसी प्रकार मनु ने एक समय एक ही विवाह का विधान किया है (५।१६७-१६८),किन्तु परवर्तीकाल में बहुविवाह की प्रथा चल पड़ी । दायभाग के विधानों में केवल एक विवाह के अनुसार ही दायभाग का विभाजन था । विभिन्न वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के लिए दायभाग के विधानों

का अभाव देखकर परवर्ती लोगों ने तत्सम्बन्धी विधानों को भी जोड़ दिया —

चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुत : ।
वैश्यापुत्रो हरेद्द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ।। (९।१५३ ।।)

अर्थ — ब्राह्मणी का पुत्र चार भाग, क्षत्रिया का पुत्र तीन भाग, वैश्या का पुत्र दो भाग और शूद्रा का पुत्र एक भाग लेवे।

इसी प्रकार समय-समय पर प्रचलित रूढ़िवादिताओं और अन्धविश्वासों से प्रेरित विधान भी इसी प्रवृत्ति के कारण प्रक्षिप्त हुए हैं।

(९) परिष्कार एवं व्यवस्थापन की प्रवृत्ति — मनुस्मृति जिस व्यवस्थित रूप में आज उपलब्ध है, यह इसका मौलिक स्वरूप नहीं है। मनुस्मृति को अध्यायों में परवर्तीकाल में विभाजित किया गया है। विभाजन कर्ता ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसे विभाजित किया और अध्यायों के अन्त में समाप्ति सूचक श्लोकों की शैली की एकरूपता बनाये रखने के लिए कुछ स्थानों पर अपनी ओर से ही श्लोक मिला दिये। ऐसा एक श्लोक है —

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।। (८।४२० ।।)

अर्थ — इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर करता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार कुछ श्लोक तो एकरूपता के लिए मिलाये गये हैं (इनका विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति का अध्याय विभाजन' शीर्षक में यथास्थान देखिये) और कुछ मनुस्मृति के परिष्कार के लिए। प्रथम अध्याय में १०७, १११-११८ तक विषय-सूची का वर्णन करने वाले श्लोक विभाजन की व्यवस्था को परिष्कृत रूप देने के लिए ही बनाकर मिलाये गये हैं, जिससे मनुस्मृति में वर्णित विषयों का एक स्थान से ही ज्ञान हो सके।

(१०) स्वाभिमत स्पष्टीकरण एवं व्याख्या की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में जहां-कहीं भी ऐसे वर्णन हैं जो अतिशयोक्तिपूर्ण, महिमात्मक अथवा नये ढंग की व्याख्या वाले, कही हुई बातों को पुन : भिन्न प्रकार स्पष्ट करने वाले, वे उक्त प्रवृत्ति के कारण किये गये प्रक्षिप्त हैं। यथा —

(क) ग्यारहवें अध्याय में ५४-१९० श्लोकों में प्रायश्चित का विधान, वर्गीकरण और विधियां मनुसम्मत नहीं हैं। किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने अपने ढंग से उनका वर्णन किया है।

(ख) १२।८६-९० श्लोकों में निवृत्त कर्मों का स्पष्टीकरण प्रासंगिक नहीं है। यह किसी परवर्ती व्यक्ति ने परिवर्धन की दृष्टि से जोड़ दिया है।

इस प्रकार सभी प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में कोई-न-कोई प्रवृत्ति अवश्य दृष्टिगोचर होती है, जिसकी प्रेरणा से प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में प्रक्षेप किये हैं। कहीं-कहीं कई-कई प्रवृत्तियां भी एक साथ दिखाई पड़ती हैं। इस तरह प्रवृत्तियों के परिज्ञान से श्लोकों की प्रक्षिप्तता और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

५. प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और उनके प्रमाण

'मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं,' यह मान्यता स्थिर हो जाने और उन प्रक्षेपों के अनुसंधान की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर विचार कर लेने के पश्चात् अब प्रक्षेपों के अनुसंधान का प्रश्न आता है । विचारणीय बात यह है कि मनुस्मृति में हुये प्रक्षेपों को कैसे पहचाना जाये और किस प्रकार उन्हें अमौलिक घोषित किया जाये ? यह प्रश्न बड़ा जटिल एवं गम्भीर है । ऐसा कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है, जो श्लोकों को स्पष्टत : निर्णीत कर दे कि अमुक प्रक्षिप्त है और अमुक मौलिक । यदि यह कार्य इतना सरल होता तो अभी तक कभी का निर्णय हो चुका होता । इस प्रकार अत्यन्त कठिन एवं उलझनपूर्ण होते हुए भी इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक उपाय यह निकाला है कि कृतित्व के आधार पर कुछ सुनिश्चित 'मानदण्ड' या 'आधारों' का निर्धारण किया जाये जिनकी कसौटी पर खरे उतरने वाले श्लोकों को ही मौलिक माना जाये और इतर श्लोकों को प्रक्षिप्त । सुनिश्चित आधारों के बिना किया गया कार्य प्रामाणिककोटि में नहीं आ सकता । यद्यपि इससे पूर्व भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के लिए अनेक प्रयास हुए हैं । इनमें आर्यसमाज के विद्वानों ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है, जिनमें तुलसीराम स्वामी, स्वामी श्रद्धानन्द, चन्द्रमणि विद्यालंकार, सत्यकाम सिद्धान्तशास्त्री, गंगाप्रसाद उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त बूलर और डा. जे. जौली आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का प्रयास किया है । किन्तु फिर भी यह समस्या सुलझ नहीं पायी । अभी तक प्रक्षेपों को निकालने के लिए जो प्रयास हुए हैं उनमें सबसे बड़ी कमी यह रही है कि अनुसन्धानकर्त्ताओं ने कोई सुनिश्चित सर्वमान्य आधार निर्धारित नहीं किये । कुछ विद्वानों ने जो आधार अपनायें हैं,वे एकपक्षीय होने के कारण सर्वमान्य नहीं बन सके । संक्षेप में मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के लिए अभी तक किये गये प्रयासों में निम्न त्रुटियाँ रह गई हैं —

१. प्रक्षेप निकालने के लिए अनुसन्धानकर्त्ताओं ने ऐसे आधार निश्चित नहीं किये जो सर्वमान्य हों और जो सभी वर्गों में मान्य हो सकें । बिना 'आधारों' के निकाले गये प्रक्षेपों को देखकर पाठकों की ओर से यह आक्षेप उठा कि प्रक्षेपानुसन्धाताओं ने श्लोकों को मनमाने ढंग से निकाला और रखा है । जिसे अपने विचारों के अनुकूल समझा उसे रखा और प्रतिकूल को 'प्रक्षिप्त' घोषित कर दिया । विशेष रूप से यह उन आर्यसमाजी विद्वानों के लिये कहा जाता है, जिन्होंने आर्यसामाजिक विचारों के आधार पर श्लोकों को रखा और निकाला है

२. सुनिश्चित आधारों के बिना प्रक्षेप निकालने वालों से यह भूल हुई है कि उन्होंने कुछ मौलिक श्लोकों को भी निकाल दिया, और इसी प्रकार कुछ प्रक्षिप्त श्लोक भी शेष रह गये ।

३. कुछ विद्वानों ने कुछ 'आधार' भी अपनाये हैं, किन्तु वे विद्वान् उन 'आधारों' को सब स्थानों पर लागू ही नहीं कर सके । कई स्थानों पर वे गलत ढंग से लागू किये हैं ।

४. निकाले गये प्रक्षिप्त श्लोकों के साथ विद्वानों ने उनकी प्रक्षिप्तता के कारणों का विवरण नहीं दिया । इससे पाठकों को उनकी पद्धति का न तो ज्ञान ही हो पाया और न वे उस कार्य से आश्वस्त एवं सन्तुष्ट ही हो पाये ।

५. कुल्लूकभट्ट ने यद्यपि प्रक्षेप निकालने की प्रवृत्ति से मनुस्मृति पर कोई कार्य नहीं किया तथापि उसने १७० श्लोकों को प्रक्षेप कोटि में रखा है । इन श्लोकों को बृहत्कोष्ठकों और पृथक्संख्या में दिखाया गया है । कुल्लूकभट्ट ने ये श्लोक तत्कालीन हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त अन्तर के आधार पर प्रक्षिप्त माने हैं । यह कहना चाहिये कि ये श्लोक तो वे प्रक्षिप्त श्लोक हैं जो तब तक मनुस्मृति में

घुल-मिल नहीं पाये थे । इनसे पूर्व घुले-मिले श्लोकों पर कुल्लूक ने कोई संकेत नहीं दिया, अत : उसके द्वारा दर्शाये गये प्रक्षेपों के बावजूद भी प्रक्षेप-अनुसंधान कार्य में कोई वास्तविक योगदान नहीं हो सका । कुल्लूक का काल बहुत अर्वाचीन है । मनुस्मृति में प्रक्षेप चिर-काल से होते रहे हैं । कुल्लूक के प्रक्षेपों को तो पौराणिकों ने भी मान लिया है, किन्तु कुल्लूक का प्रयास संकेतमात्र है ।

इन कमियों के कारण अभी तक मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धानकार्य प्रतिष्ठित नहीं हो सका । अब पुन : इस अनुसन्धान को नये सिरे से करने का यह एक और प्रयास किया गया है और प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुसन्धान के लिए कुछ ऐसे सुनिश्चित 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये गए हैं जो सर्वसामान्य हैं । इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि आधार विशुद्धरूप से कृतित्व पर आधारित हैं । इसके पीछे किसी प्रकार का कोई आग्रह या मतवाद नहीं है । इसलिए आशा की जाती है कि ये सर्वमान्य हो सकेंगे । जैसे कृति सब के लिये समान है, वैसे कृतित्व को परखने के ये 'आधार' या 'मानदण्ड' भी सबके लिये समान हैं । ये सभी वर्ग के व्यक्तियों पर समानरूप से लागू होते हैं और सभी व्यक्ति उन आधारों को समानरूप से श्लोकों पर परख सकते हैं । जिन श्लोकों या प्रसंगों पर ये लागू हुए हैं,वहां तत्तत् 'आधार' का कारणपूर्वक प्रदर्शन किया गया है । उसे पढ़कर पाठक स्वयं भी इसकी परीक्षा कर सकेंगे । एक-एक प्रक्षिप्त श्लोक या प्रक्षिप्त प्रसंग पर कई-कई आधार भी एक साथ लागू होते हैं । ऐसे स्थलों पर उन सभी आधारों को लागू करके दर्शा दिया गया है । इससे उन श्लोकों की प्रक्षिप्तता और अधिक दृढ़ता से सिद्ध हो सकेगी तथा प्रक्षिप्त भाग के विवेचन में किसी सन्देह का अवसर नहीं रहेगा । जो युक्तियां या आधार स्वल्प रूप में या आंशिक रूप में लागू होती हैं, उनका भी उल्लेख उदारता से इसलिए कर दिया गया है कि वे अन्य युक्तियों या आधारों के साथ मिलकर उनकी प्रभाववृद्धि या पुष्टि करने में सहायक होंगी, उनका मण्डन करेंगी ।

इस प्रकार प्रक्षेप निकालने के इस जटिल कार्य को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है और पूर्णत : तटस्थता का अनुसरण किया है । फिर भी यह सम्भव हो सकता है कि कुछ प्रक्षिप्त श्लोक दृष्टिगत न हो पाये हों, अर्थात् कुछ श्लोक इन 'आधारों' की पकड़ में न आ सके हों । क्यो हि, प्रक्षेप करने वाले व्यक्तियों ने अपने श्लोकों को मनुस्मृति के श्लोकों के साथ मिलाने की यथा सम्भव कोशिशें की हैं, अत : हो सकता है कि कुछ श्लोक इतने घुला-मिला दिये हों, जो इन आधारों की पकड़ में न आ सके हों । इन आधारों की सीमा से बाहर के श्लोकों को, चाहे वे कैसी ही मान्यता वाले हैं, हमने प्रक्षेपों की दृष्टि से नहीं देखा है । यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि जितने भी श्लोक प्रक्षिप्त निकाले गये हैं, उनकी प्रक्षिप्तता पर विचार करने के साथ-साथ उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की प्रेरक-प्रवृत्ति क्या हो सकती है, इसका भी विचार किया गया है । क्योंकि व्यक्ति किसी विशेष प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर प्रक्षेप करता है । इस प्रकार यह अनुसन्धान-कार्य कई प्रकार से पुष्ट है —

(१) सुनिश्चित 'आधारों' के आधार पर प्रक्षेप निकालने से,

(२) प्रक्षिप्त श्लोकों पर एक ही नहीं अपितु कई-कई आधार लागू होने से,

(३) प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में प्रक्षेप की प्रवृत्ति पर ध्यान रखने के कारण ।

इस प्रकार जो श्लोक प्रक्षिप्त निकाले हैं, उनके मौलिक होने की या प्रक्षिप्तों के बचे रहने की गुंजायश नहीं के बराबर रह जाती है ।

कुछ श्लोक इस प्रकार के भी है जो स्थानभ्रष्ट हो गये है । प्रसंगविरोध के आधार पर पाठक उन्हें

प्रसंगविरुद्ध कह सकते हैं, किन्तु उन्हें प्रक्षेप नहीं माना जा सकता ; क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति ही प्रतीत नहीं होती । न उसका किसी प्रक्षिप्त प्रसंग से सम्बन्ध है और न उसका मनुस्मृति की मान्यता अथवा शैली से विरोध ही आता है । ऐसे श्लोकों पर टिप्पणी देकर उन्हें यथावत् रख दिया गया है । इस प्रकार के स्थानभ्रष्ट कहे जा सकने वाले श्लोक बहुत थोड़े हैं । कुछ उदाहरणों द्वारा इस नीति को स्पष्ट कर देना उपयुक्त रहेगा —

(क) अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु या स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ।। (१।२७।।)

अर्थ — पांच महाभूतों की कारणभूत विपरिणामी पांच तन्मात्राएं कही गई हैं । उनके साथ यह सम्पूर्ण जगत् सूक्ष्म से स्थूल और फिर स्थूलतरादि क्रम से उत्पन्न होता है ।

इसमें एक साधारण वर्णन है । इसमें प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति प्रतीत नहीं होती और न इसमें अन्तर्विरोध है । क्योंकि इसमें किसी प्रकार का आग्रह ही नहीं है । प्रचलित पुस्तकों में यह जिस स्थान पर है वहां पूर्वापरप्रसंग की दृष्टि से असंगत है । पूर्वापर प्रसंग कर्मों का है । किन्तु फिर भी इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह एक अविरोधी और सहज वर्णन है ।

(ख) सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ।। (१।२१।।)

अर्थ — उस परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेद के शब्दों से सब वस्तुओं के नामों, सबके भिन्न-भिन्न कर्मों और उनके विविध विभागों को बनाया ।

यह श्लोक भी क्रम की दृष्टि से असंगत है । वेदों की उत्पत्ति तो २३वें में कही है, जबकि वेदशब्दों से नामकरण और विभाजन पहले ही बता दिया । और २३वें तक अभी उत्पत्ति का ही प्रसंग है । वेदों के साथ उत्पत्ति-प्रसंग की पूर्णता होती है और नामकरण आदि उत्पत्ति के बाद की बातें हैं । इस प्रकार यह भी स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुआ और इसे २३वें के पश्चात् (**अग्निवायुरविभ्यस्तु** . . . . . के बाद) उपयुक्त क्रम में रखने के लिये टिप्पणी देदी है । इससे यह क्रम बन गया कि ब्रह्म ने वेद उत्पन्न किये फिर वेदों के द्वारा ही नामकरण और कर्मों का विभाजन हुआ । इस प्रकार यह श्लोक अगले कर्मों के प्रसंग "**कर्मणां च विवेकार्थम्**" (१।२६) से संगतिबद्ध रूप में जुड़ जाता है । इसका भी किसी प्रक्षिप्त विचार से सम्बन्ध नहीं है, और न किसी मान्यता से विरोध है । इस प्रकार प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित श्लोकों को यथावत् रूप में रख दिया गया है ।

यहां यह स्पष्ट किया जाता है कि प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित किन्तु प्रक्षिप्त प्रसंग से सम्बद्ध जो श्लोक हैं, वे श्लोक इस कोटि में ग्रहण नहीं किये गये हैं । उन्हें प्रक्षेपान्तर्गत ही स्वीकार किया है ।

पाठ-भेद की समस्या भी ऐसी समस्या है जिसका प्रक्षिप्तता के साथ भी पर्याप्त सम्बन्ध है । बहुत से स्थानों पर प्रक्षेपकर्त्ताओं ने नया श्लोक मिलाने की अपेक्षा मौलिक श्लोक में ही पाठभेद कर दिया है । कुछ पाठभेद असावधानी से भी हुए हैं । पाठभेदों को पहचानना या उसका मौलिक रूप देना यद्यपि अपने आप में पृथक् और महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो अत्यन्त कठिन है । फिर भी कुछ प्रक्षिप्त पाठभेदों को पहचानने की कोशिश की गई है । कोई प्रामाणिक पाठ उपलब्ध न होने के कारण मनुस्मृति की मान्यता, प्रसंग, विषय और शैली के अनुकूल जो पाठ उचित प्रतीत हुआ तथा जो अर्थ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त और संगत लगा, उसे ही अपनाया है । अर्थ पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख पाठभेदों में जहां भी परिवर्तन है, वहां 'अनुशीलन' नामक समीक्षा में उस पर प्रकाश डाला गया है ।

प्रक्षेपानुसन्धान की कार्यप्रणाली का उल्लेख करने के पश्चात् अब 'आधारों' पर दृष्टिपात करना शेष रह जाता है । प्रक्षेपों के अनुसंधान के लिए कुल सात आधार निर्धारित किये गये हैं । इनमें प्रथम छह अन्त :साक्ष्य के आधार पर हैं अर्थात् मनुस्मृति की रचना शैली और मान्यताओं से इन आधारों के अन्तर्गत आने वाले श्लोकों की प्रक्षिप्तता सिद्ध होती है । सातवें आधार का स्वयं मनु ने अनेक स्थानों पर संकेत दिया है । उस संकेत के अनुसार केवल 'वेदों' को बाह्यसाक्ष्य के रूप में प्रमाण माना गया है । वे आधार निम्न हैं —

१. विषय-विरोध ।
२. प्रसंग-विरोध ।
३. अन्तर्विरोध (परस्परविरोध) ।
४. पुनरुक्तियां ।
५. शैलीविरोध या शैलीगत आधार ।
६. अवान्तरविरोध (सहयोगी आधार के रूप में) ।
७. वेद-विरुद्ध ।

परिभाषाओं और उदाहरणों सहित इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है —

१. विषय-विरोध

मनुस्मृति कुछ मुख्य विषयों में निबद्ध है । मनु ने किसी भी विषय का प्रारम्भ या समापन करते समय अथवा दोनों ही स्थानों पर उस वर्ण्यविषय का संकेत स्वयं ही किया है । मनुस्मृति के अध्यायों का विभाजन भी लगभग मुख्य विषयों के अनुसार ही किया हुआ है. जैसे-—प्रथम अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति, द्वितीय में संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय अध्याय में गृहस्थ (विवाह और पंचयज्ञ विधान), षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि । निश्चित विषयवाले उन वर्णनों में संकेतित विषय से भिन्न अथवा विपरीत जो श्लोक हैं, वे विषयविरुद्ध हैं ; और इस विषय-विरोध के आधार पर वे प्रक्षिप्त कहलायेंगे । वे मौलिक इसलिए नहीं माने जा सकते, क्योंकि जब मनु ने स्वयं अपने विषय को एक निश्चित सीमा में बाँधा हुआ है और साथ ही उनका संकेत भी दिया हुआ है, तो वे स्वयं विषयबाह्य वर्णन नहीं कर सकते । अत : ऐसे श्लोक मौलिक न होकर बाद में मिलाये गये हैं । यथा —

(क) मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयस : ।।
मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ।।
भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि॥ २।१३०-१३२ ।।
(इस संस्करण के अनुसार २।१०५-१०७)

अर्थ — (ब्रह्मचारी) मामा, चाचा, श्वसुर और ऋत्विज् आदि बड़ों को और ये छोटे भी हों तब भी उठकर 'मैं अमुक हूं' इस प्रकार नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार करें । मौसी, मामी, सासू और बूआ,ये गुरुपत्नी के समान पूज्य हैं । उसे बडे भाई की सवर्णा स्त्री का प्रतिदिन चरणस्पर्श करके अभिवादन करना चाहिये ।

पूर्व श्लोकों में उपनयन संस्कार का विधान करने के पश्चात् २।६८ (इस संस्करण में २।४३) वें

श्लोक में **'कर्मयोगं निबोधत'** कहकर ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन करने का कथन किया गया है। फिर २।१६४ (इस संस्करण में २।१३९)वें श्लोक में कहा है—**''अनेन क्रमयोगेन ...... गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तप:''** अर्थात्—'इस पूर्वोक्त विधान के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ वेदज्ञान-प्राप्तिकारक तप का संचय करे .' इससे यह स्पष्ट हुआ कि गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी को जो कर्त्तव्य निभाने हैं, केवल उन्हीं का यहां वर्णन है। इसके अतिरिक्त २।६९ (इस संस्करण में ४४वां), १०८ (८३वां), १७५ (१५०वां), १९१-२०३ (१६६-१७८), २१९ (१९४वां), २४१-२४४ (इस संस्करण में २१६-२१९) श्लोकों से भी यही स्पष्ट होता है। ब्रह्मचारी को उपनयन संस्कार के अनन्तर समावर्तन तक गुरुकुल में ही रहने का विधान है। इसके लिए यह भी आदेश है कि सूर्यास्त के बाद गांव में न रहे [२।२१९ (इस सं. में १९४वां)]। उक्त श्लोकों में विहित कर्त्तव्य ब्रह्मचारी पर लागू ही नहीं होते। न तो ब्रह्मचारी का मामा, चाचा, मौसी आदि से सम्बन्ध पड़ता है और न भाई की पत्नी से। फिर वह कैसे प्रतिदिन चरणस्पर्श करके नमस्कार करेगा? इन श्लोकों में तो सास-ससुर को भी नमस्कार का विधान है। बताइये ब्रह्मचारी के सास-ससुर कहां से होंगे? यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ये वाक्य विधिवाक्य हैं, अर्थवाद नहीं। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम विषय के अन्तर्गत गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उल्लेख विषय-विरुद्ध है। अत: ये प्रक्षिप्त हैं।

(ख) इसी प्रकार ब्रह्चर्याश्रम के कर्त्तव्यों के वर्णन में २।२२५-२३७ (इस संस्करण में २।२००-२१२) तक आचार्य, पिता और माता की सेवा का प्रसंग है—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही।
दीप्यमान: स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते।।
।।२।२३२। (२।२०७)

अर्थ—इन तीनों (आचार्य, माता, पिता) की सेवा में सावधान रहने वाला गृहस्थी तीनों लोकों को जीत लेता है और शरीर से तेजस्वी होकर देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द से रहता है।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों के बीच गृहस्थियों के कर्त्तव्यों का उल्लेख विषयविरुद्ध है। इस श्लोक मे तो 'गृही' शब्द स्पष्टरूप से उल्लिखित है। इस प्रकार यह सारा ही प्रसंग प्रक्षिप्त है।

(ग) निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधि:।
तस्य शास्त्रेऽधिकारो ऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्।।
।।२।१६। (इस संस्करण में १।१३५)

अर्थ—गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त जिसके लिए संस्कारों का वेद-मन्त्रों में विधान किया गया है, उसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का इस (मनुस्मृति) शास्त्र में अधिकार जानना चाहिए; अन्य किसी का नहीं।

२।१ (इस संस्करण के अनुसार १।१२०) में मनु ने धर्मोत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करने का संकेत दिया है,और २।२५ (१।१४४) में इस विषय की समाप्ति का संकेत है। धर्मोत्पत्ति के वर्णन में बिना ही प्रसंग के 'मनुस्मृति के पढ़ने के 'अधिकार-अनधिकार' का कथन विषय-विरुद्ध है, अत: यह श्लोक प्रक्षिप्त कहा जायेगा।

२. प्रसंगविरोध

इस अनुसन्धान कार्य में मनुस्मृति के मुख्य विषयों को 'विषय' और प्रचलित वर्णन के छोटे-छोटे

प्रमाणों या किसी चर्चा के क्रम को 'प्रसंग' की संज्ञा दी गई है । प्रचलित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा वाले अथवा भिन्न प्रसंग को प्रारम्भ करने वाले श्लोक, एक प्रसंग के उक्त हो जाने के अनन्तर पुन : नये सिरे से तद्विषयक चर्चा या प्रसंग की शुरुआत करने वाले श्लोक, (उपसंहार और विकल्पों को छोड़कर), क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात् अथवा पूर्व ही वर्णित क्रमविरुद्ध श्लोक, उपयुक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक 'प्रसंग-विरुद्ध' हैं ।

(क) प्रचलित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा —

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रि : स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामह : ।। (१।६५ ।।)

पित्र्ये रात्र्यहनी मास : प्रविभागस्तु पक्षयो : ।
कर्मचेष्टास्वह : कृष्ण : शुक्ल : स्वप्नाय शर्वरी ।। (१।६६ ।।)

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयो : पुन : ।।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रि : स्याद्दक्षिणायनम् ।। (१।६७ ।।)

अर्थ —सूर्य मानवीय तथा दैवी दिन-रातों का विभाग करता है । रात प्राणियों के सोने के लिए और दिन चलने-फिरने आदि चेष्टा तथा कार्यों के लिए होता है (१।६५) । मनुष्यों का महीना पितरों का एक दिन-रात होता है । और मास का जो दो पक्षों में विभाग है, उसमें कृष्णपक्ष कर्म करने के लिए पितरों का दिन और शुक्लपक्ष सोने के लिए रात होती है (१।६६) । मनुष्यों का एक वर्ष देवों का एक दिन-रात होता है । उसमें छ : मास उत्तरायण देवों का दिन और छ : मास दक्षिणायन देवों की रात्रि होती है (१।६७) ।

इनमें ६६वां श्लोक पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा का वर्णन कर रहा है, अत : प्रसंगविरुद्ध है । इस श्लोक ने पूर्वापर प्रसंग को भंग कर दिया है । ६५वें श्लोक में **'मानुषदैविके'** पदों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि आगे मनुष्य और देवताओं के दिन-रात का वर्णन करना ही रचयिता को अभीष्ट है । संकेत के अनुसार मनुष्यों के दिन-रात का वर्णन तो ६५वें में ही वर्णित हो चुका । अब देवताओं के दिन-रात का वर्णन शेष रहा, वह ६७वें में वर्णित है । किन्तु प्रक्षेपकों ने उस क्रम को भंग करके बीच में पितरों के दिन-रात का वर्णन डाल दिया, जबकि इसको कहने की कहीं चर्चा ही नहीं है । इस प्रकार ६६वां श्लोक प्रसंगविरुद्ध है । मृतकश्राद्ध की मान्यता रखने वाले व्यक्तियों ने अपनी 'मृत-पितर' सम्बन्धी मान्यता को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए यह प्रक्षेप किया है ।

(ख) प्रचलित एक प्रसंग को भंग करके पूर्वापर से भिन्न नये प्रसंग का प्रारम्भ —

एक प्रसंग का प्रारम्भ —

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ।। (३।२० ।।)
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष : प्राजापत्यस्तथासुर : ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम : ।। (३।२१ ।।)

अर्थ — चारों वर्णों के लिए लोक तथा परलोक में हित तथा अहित करने वाले आठ विवाह संक्षेप से ये जानने चाहिए — (१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) आसुर (६) गान्धर्व (७) राक्षस (८) पैशाच ।।

इस पूर्वप्रसंग को भंग करके मध्य में ही एक नये प्रसंग का प्रारम्भ —

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्व : सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ।। (३।२२ ।।)

X X X X

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ।। (३।२६ ।।)

अर्थ — जिस वर्ण के लिए जो विवाह धर्मानुकूल है और जिस विवाह के जो गुण तथा दोष हैं और उत्पन्न सन्तान के भी जो गुण-दोष हैं, उन सब को तुम्हारे लिए कहूँगा । अलग-अलग अथवा मिलाकर पहले बताए गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त माने गये हैं ।

३।२०-२१ से प्रारब्ध पहले वाले मौलिक भग्नप्रसंग का पुन : प्रारम्भ —

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म : प्रकीर्तित : ।।(३।२७।।)
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।(३।२८ ।।)

अर्थ — विद्या और शील वाले वर को बुलाकर, वस्त्रादि से युक्त एवं सम्यक सत्कार करके कन्या देना 'ब्राहम' विवाह कहलाता है (३।२७) । ऋत्विक के द्वारा विस्तृत यज्ञ-कर्म करने पर वस्त्राभूषणादि से अलंकृत करके कन्या का दान करना 'दैव' विवाह कहलाता है (३।२८) ।

यहां २०वें श्लोक में मनु ने आठ विवाहों को कहने का संकेत दिया है और २१वें में उन विवाहों के नामों का उल्लेख है । इसके पश्चात् प्रसंग के अनुसार उपयुक्त यह था कि उनकी परिभाषाएं वर्णित हों — जो कि २७ से ३४ श्लोकों में हैं । किन्तु उस प्रसंग को बीच में ही तोड़कर प्रक्षेपक ने एक नया प्रसंग २२ से २६ श्लोकों में चलाया है, जिसमें यह बताया गया है कि किस वर्ण के लिए कौन-कौन सा विवाह धर्मानुकूल है । मनु को वर्णानुसार विवाह की श्रेष्ठता मान्य नहीं है, अपितु वे विधि के रूप में ही विवाह की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता मानते हैं । यह मान्यता उन्होंने विधिवर्णन वाले श्लोकों में ही स्पष्टत : दर्शायी है । ३९ से ४२ श्लोकों से भी यही सिद्ध होता है । इस प्रकार मध्यवर्ती प्रसंग प्रसंगविरुद्ध है, अत : प्रक्षिप्त है । ये श्लोक ऊंच-नीच और पक्षपात की भावना से प्रेरित प्रक्षेप हैं ।

(ग) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात् आने वाले क्रम-विरुद्ध श्लोक —

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभु : ।। (१।३२ ।।)

अर्थ — वह ब्रहमा अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से नारी बन गये, फिर उस नारी में 'विराट्' को उत्पन्न किया ।

X X X

अहं प्रजा : सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ।। (१।३४ ।।)

अर्थ — मैंने (मनु ने) प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से कठिन तपस्या की और फिर दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया ।

X X X

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभि: ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजंगमम् ।। (१।४१ ।।)

अर्थ — इस प्रकार इन महर्षियों ने मेरी आज्ञा से तप करके फिर सारे स्थावर जंगम जगत् को उत्पन्न किया ।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुस्मृतिकार एक निश्चित प्रक्रिया से क्रमश : प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएं, इन्द्रियां और मन, पञ्चमहाभूत, इन तत्त्वों से स्थावर-जंगम सृष्टि की उत्पत्ति मानता है (१ । १४-२१) । पिछले श्लोकों में इसी क्रम से सृष्टि-उत्पत्ति दर्शाते हुए १ । १६-१८ श्लोकों द्वारा सभी प्रजाओं की 'उत्पत्ति हो चुकी' दर्शायी जा चुकी है । फिर १ । १९-२१ श्लोकों द्वारा संक्षेप में अन्य समस्त संसार की उत्पत्ति का कथन कर दिया । इस प्रकार प्रजाओं (प्राणियों) और अन्य जगत् की उत्पत्ति का क्रमबद्ध प्रसंग पूरा हो गया । इसके पश्चात् १।२२-३१ श्लोकों में उत्पन्न हुए प्राणियों के साथ कर्मसंयोग आदि का प्रसंग चला है । फिर एक नया प्रसंग शुरू किया गया है, जिसमें ब्रह्मा द्वारा अभी स्त्री और पुरुष का निर्माण होना कहा जा रहा है । मनु द्वारा अभी प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा ही की जा रही है । महर्षियों द्वारा स्थावर और जंगम जगत् की उत्पत्ति कही जा रही है ! जबकि पिछले श्लोकों में प्राणियों की उत्पत्ति होने पर उनके कर्मों का भी विवेचन किया जा चुका । इस प्रकार यह प्रसंग क्रमविरुद्ध है । यदि यह मौलिक होता तो १ । १६ में प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाने से पूर्व इसका क्रमोचित वर्णन होता । लेकिन क्रम में यह जुड़ नहीं पाया । अत : प्रक्षेपक को बाद में डालना पड़ा । इस प्रकार इन श्लोकों की क्रमविरुद्धता इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध कर रही है । अन्य 'अन्तर्विरोध' आदि आधारों पर भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । ये श्लोक ब्रह्मा द्वारा सृष्टि उत्पन्न करने वाली नवीन वेदान्त की मान्यता से प्रभावित पौराणिक कल्पना की देन हैं । मिथ्या कल्पनाओं द्वारा ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर मनु और मनुस्मृति आदि को अलौकिक सिद्ध करने की भी प्रवृत्ति इनमें लक्षित होती है ।

(घ) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम से पूर्व ही आने वाले क्रमविरुद्ध श्लोक —

तदण्डमभवद्वैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह: ।। १ । ९ ।।

अर्थ — वह 'अप्' तत्त्व हिम-सा शुभ्र और सूर्य-सा चमकीला अण्डाकार बन गया । उसमें से सब लोकों के पितामह स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुए ।

X X X X

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ।। १ । १२ ।।

अर्थ — उस अण्डे में भगवान् ने परिवत्सर (कल्प का शतांशसमय) तक निवास किया और तत्पश्चात् ध्यान से उस अण्डे के दो विभाग कर दिए ।

X X X X

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ।। १ । १३ ।।

अर्थ — अण्डे के उन दो खण्डों से द्युलोक,पृथिवी की रचना की और इनके मध्य में आकाश, आठ दिशाओं और जलों के शाश्वत स्थान (अन्तरिक्ष) को बनाया ।

यह १ । ९, १२, १३ श्लोकों का एक प्रसंग है । इसमें एक अण्डे के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति दर्शायी गयी है । ब्रह्मा ने उस अण्डे में रहकर उसको दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया । उसके उन टुकड़ों से द्युलोक, पृथिवीलोक, आकाश, समुद्र आदि बने ।

मनुस्मृति की सृष्टि-उत्पत्ति प्रक्रिया और उसके क्रम के बारे में पिछले 'ग' भाग में पर्याप्त विवेचन किया गया है । इस उदाहरण को समझने के लिए भी उसे ध्यान में रखना आवश्यक है । महत् आदि तत्त्वों की प्रक्रिया और क्रम से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते हुए १ । १९-२१ श्लोकों में पूर्णत : सृष्टि के बनने का क्रम आता है । उनका निर्माण १४ से २१ श्लोकों में है,लेकिन इस प्रसंग में उनके बनने से पूर्व ही द्युलोक, पृथ्वीलोक आदि की स्थूल सृष्टि बनी दिखा दी । प्रश्न उठता है कि जब उसके प्राकृततत्त्व ही नहीं बने हैं तो ये पृथ्वी आदि किस वस्तु से बन गये ? यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो इसका वर्णन क्रमोचित ढंग से १।१५ के पश्चात् अथवा १८ के पश्चात् होता । लेकिन वहां यह नहीं जोड़ा जा सका, अत : पूर्व ही डाल दिया । इस प्रकार क्रमविरोधिता के कारण उक्त श्लोकों का यह प्रसंग 'प्रसंगविरुद्ध' है । ये श्लोक अन्तर्विरोध के आधार पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । इस प्रकार की सृष्टि-उत्पत्ति की पौराणिक कल्पना नवीन वेदान्त के आधार पर की जाती है । उसी आग्रह के कारण यहाँ ये प्रक्षेप किये गये प्रतीत होते हैं ।

(ङ.) उपर्युक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक —

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ।। (१।१११ ।।)
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनु: ।। (१।११८ ।।)

अर्थ — मनुस्मृति में जगदुत्पत्ति, संस्कारों की विधि, व्रतचर्या और स्नान की विधि क्रमश: कही है । इस शास्त्र में मनु ने देश, जाति और कुलों के धर्मों तथा पाखण्डियों के अवैदिक कर्मों का वर्णन किया है ।

यह १११-११८ श्लोकों का एक प्रसंग है । इसमें मनुस्मृति की विषय सूची दी गई है । यहां विचारणीय बात यह है कि विषयसूची का उपयुक्त स्थान या तो किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में होता है, या फिर अन्त में ही । बिना ही पूर्वापर प्रसंग के कहीं भी विषयसूची का कथन कर देना किसी भी विद्वान् का कार्य नहीं हो सकता । इन श्लोकों के लिए यह उपयुक्त स्थल नहीं है, अपितु बलात् ठूंसे हुए प्रतीत होते हैं । इस आधार पर यह प्रसंग प्रक्षिप्त है । दो अन्य प्रमाण भी इनको प्रक्षेप सिद्ध करने में दिए जा सकते हैं — (१) मनुस्मृति की ऐसी शैली ही नहीं है जिसमें विषयसूची का प्रदर्शन करने का अवसर आ सके । इसकी प्रवचन शैली है और प्रत्येक प्रवचन या विषय,पूर्वापर विषयों से श्रृंखलावत् जुड़े हैं । मनु की यह शैली है कि वे किसी विषय को प्रारम्भ या समाप्त करते समय अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत करते हैं । शैली की अखण्डता के कारण उसमें साथ-साथ ही विषयों का संकेत होता रहता है, अत : पृथक् से विषयसूची की आवश्यकता ही नहीं रहती । इसीलिए मनु ने

कहीं मनुस्मृति के विषयों की सूची प्रदर्शित करने के लिए कोई प्रसंग भी प्रारम्भ नहीं किया । इस प्रकार यहां जो ये श्लोक वर्णित हैं, ये मनु की इस शैली के नहीं हैं, इस कारण भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । (२) जिस स्थान पर ये वर्णित हैं, यहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-उत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति का है । क्रमश : ये १ । ५ और १ । १०८ तथा २ । १ से प्रारम्भ होकर २ । २५ में समाप्त हुए हैं, इन विषय-संकेतों के अनुसार इनका बीच में वर्णन विषय और प्रसंगविरुद्ध भी है ; क्योंकि ये क्रमबद्ध प्रसंगों को भंग कर रहे हैं । इस आधार पर भी ये प्रक्षिप्त हैं ।

इस प्रकार उपयुक्त स्थल और प्रसंग के बिना कहे गये श्लोक 'प्रसंगविरुद्ध' प्रक्षेप माने गये हैं । परवर्तीकाल में मनुस्मृति को अध्याय-अनुसार व्यवस्थित करने वाले व्यक्ति ने ही ये श्लोक जोड़े लगते हैं ।

३. अन्तर्विरोध (परस्परविरोध)

मनुस्मृति में जिन बातों में विरोध आता है अथवा एक मान्यता का दूसरी मान्यता जहां खण्डन करती है उसे 'अन्तर्विरोध' कहा गया है । ऐसे वर्णन वाले श्लोकों में ,निश्चित है कि एक ही मान्यता मौलिक है, दूसरी प्रक्षिप्त । मनुस्मृति एक ही लेखक की रचना है । उसमें वर्णित मान्यताओं में किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए, और किसी विशिष्ट विद्वान् की रचना में तो ऐसे विरोधों की आशा ही नहीं की जा सकती । फिर भी यह त्रुटि स्पष्टत : मिलती है । स्पष्ट है कि एक मान्यता अवश्य प्रक्षिप्त है । ऐसे वर्णनों में मौलिक मान्यता को मनुप्रोक्त मानकर दूसरी को 'अन्तर्विरुद्ध' या 'परस्परविरुद्ध' आधार पर प्रक्षिप्त माना गया है । कुछ अन्तर्विरोधी उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(क) नवम अध्याय के ५७-६३ श्लोकों में स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्म बतलाये हुए हैं । सन्तान के अभाव में यहाँ नियोग का विधान किया है । यह मान्यता शैली के अनुरूप और मौलिक है । एक श्लोक में विधान है —

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ।। (९ । ५९ ।।)

अर्थ — सन्तान का क्षय (अभाव) होने पर अपने पति की या समाज की आज्ञा से देवर वा अन्य सपिण्ड पुरुष से इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिये ।

किन्तु जैसे ही यह प्रसंग पूर्ण होता है, इस विचार के विरोधी व्यक्तियों ने इसके खण्डन में श्लोक मिला दिये हैं । उन श्लोकों में नियोग का निषेध है । इसे गर्हित और साधुपुरुषों द्वारा निन्दित कहा है, और इसके प्रचलन में विकृत कारण का उल्लेख दर्शाया है । ये ६४ से ६८ तक पांच श्लोक खण्डन के प्रसंग के हैं । इस प्रसंग के दो श्लोक प्रस्तुत हैं —

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभि : ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्यु : सनातनम् ।। (।। ९ ।६४ ।।)

अर्थ — द्विजाति लोग विधवा नारी को अन्य देवर अथवा सपिण्ड पुरुष में नियोग की आज्ञा न दें । जो नियोग कराते हैं, वे सनातन धर्म को नष्ट करते हैं ।

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भि : पशुधर्मो विगर्हित : ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ।। (९ । ६६ ।।)

अर्थ — इस नियोग-प्रथा को विद्वानों ने पशुधर्म कहा है । यह राजा वेन के समय मनुष्यों में

प्रचलित हुआ है।

इनमें ६४-६८ श्लोकों का प्रसंग मौलिक नहीं है। इसे बाद में किसी ने खण्डन के लिए मिलाया है। अत: 'अन्तर्विरोध' या 'परस्पर विरोध' के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। वेद में जिस का कथन हो, उसको थोड़े समय से प्रचलित कहना ठीक नहीं। मनुस्मृति स्वयं आदि सृष्टि की है। इस लेख से यह सिद्ध है कि मनु का पूर्व लेख नियोग-प्रतिपादन का है। राजा वेन मनु से बहुत बाद का है।[1]

(ख) 'अहिंसापालन' अथवा **'हिंसानिषेध'** की मान्यता मनुस्मृति की उन मान्यताओं में से एक है जिन पर मनुस्मृतिरूपी प्रासाद टिका हुआ है। जो व्यक्ति हिंसा, मांसभक्षण तथा पशुयज्ञ को मनुस्मृतिसम्मत मानते हैं वे मनु और मनुस्मृति के साथ अन्याय करते हैं, और वे वस्तुत: इनके साथ ईमानदार नहीं हैं। मनु ने प्रत्येक प्रकार की हिंसा को पाप माना है और स्थान-स्थान पर अहिंसा-पालन के लिए बल दिया है। अहिंसा की मान्यता मनुस्मृति की कितनी दृढ़ आधारभूत मान्यता है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मनु ने गृहस्थी-जनों के लिए जो नैत्यिक पञ्चमहायज्ञों का अनिवार्य विधान किया है, उसके मूल में हिंसा-निवृत्ति की भावना ही है। गृहस्थों द्वारा प्रतिदिन अज्ञान और विवशतावश होने वाली छोटी-छोटी हिंसाओं के प्रायश्चित्त के लिए ही पञ्चमहायज्ञों का करना आवश्यक बताया है–

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर: ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।। (३ । ६८ ।।)

अर्थ– गृहस्थी के यहां चूल्हा, चक्की, झाडू, ओखली, जल का घड़ा, ये पांच हिंसा के स्थान हैं। इनको व्यवहार में लाता हुआ गृहस्थी हिंसा के पापों से बंधता है।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि: ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ।। (३ । ६९ ।।)

अर्थ – उनके प्रायश्चित्त के लिए महर्षियों ने गृहस्थी के लिए क्रमश: पांच महायज्ञों का दैनिक विधान किया है।

इसके अतिरिक्त मनु ने अनेक स्थानों पर हिंसा का स्पष्ट निषेध भी किया है और हिंसक की निन्दा की है।–

(अ) वर्जयेन् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।। २ ।१७७ ।।
(इस संस्करण में १५२ वां)

अर्थ – मद्य-पान, मांस-भक्षण तथा प्राणियों की हिंसा को छोड़ देवे।

(आ) – हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।। (४ ।१७० ।।)

अर्थ – जो नित्य हिंसा के कर्मों में रत रहता है, वह इस संसार में सुख प्राप्त नहीं करता है।

(इ) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्
न च प्राणिवध: स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् (।। ५ ।४८ ।।)

अर्थ – प्राणियों की हिंसा के बिना कहीं मांस की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। और प्राणियों का वध

---

१. महाभारत में वेन नाम के दो राजाओं का उल्लेख आता है। एक – वैवस्वत मनु के दश पुत्रों में से एक था (महा. आ. ७०।१३)। दूसरा — अंग देश का एक दुष्टकर्मा राजा था, जो कर्दमपुत्र अनंग का पुत्र था। इससे राजा पृथु का जन्म हुआ (शा. ५९ ।९६-९९)। इस प्रकार दोनों ही राजा स्वायम्भुव मनु से पर्याप्त परवर्ती हैं। यहां अंगराजा वेन का ही वर्णन है।

सुख देनेवाला नहीं है। इसलिए मांस को सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

मनु ही वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंसा के लिए सलाह देने वाले व्यक्ति को भी पाप का भागीदार घोषित किया है। मांसप्राप्ति में किसी भी रूप से सम्बद्ध व्यक्ति मनु के मत से 'घातक' है। मनु ने हिंसा से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को 'घातक' घोषित करके अपनी अहिंसा की दृढ़ मान्यता को अशंकित रूप से स्पष्ट कर दिया है। वे 'घातक' (पापी) ये हैं—

(ई) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ (५।५१॥)

अर्थ— सलाह देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, खरीदने और बेचने वाला, पकाने वाला, लानेवाला और खाने वाला, ये सभी घातक (पापी) हैं।

अहिंसा के समर्थन में और हिंसा की निन्दा में इतना सब कुछ लिखने वाले व्यक्ति के ग्रन्थ में कहीं मांसभक्षण की बात को मौलिक मान लिया जाये तो यह दुस्साहस ही कहा जायेगा। इतनी स्पष्ट मान्यता होते हुए भी मनुस्मृति में मांसभक्षण, पशुयज्ञ और हिंसापरक श्लोकों को मिला दिया गया—

(अ) नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ (४।२७॥)

अर्थ — अग्नियाँ नवान्न और मांस की लोलुप होती हैं। अतएव जो द्विज नये अन्न और पशु-मांस से अग्नि में हवन नहीं करते, उनके प्राणों को ही अग्नियां खाना चाहती हैं।

(आ) **पांचवें अध्याय में ११ से ४७** तक मांसभक्षण का विधान।

(इ) तृतीय अध्याय में १२२ से २८४ तक श्राद्ध में विभिन्न मांसों के खाने का विधान।

ये तथा मनुस्मृति के सभी हिंसा-समर्थक श्लोक उपर्युक्त मौलिक मान्यता के विरुद्ध होने के कारण 'अन्तर्विरोध' आधार पर प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों का प्रक्षेप स्वार्थी पंडितों तथा वाममार्गियों ने किया है। (अन्य प्रमुख अन्तर्विरोधों को जानने के लिए देखिये — 'मनुस्मृति की प्रमुख मौलिक मान्यताएं' शीर्षक विवेचन)।

४. पुनरुक्तियां —

पहले कही हुई बात को विशिष्ट अभिप्राय के बिना पुनः कहना पुनरुक्ति है। ये पुनरुक्तियां बिल्कुल ज्यों की त्यों तो नहीं हैं, किन्तु अनेक स्थानों पर प्रक्षेपकर्त्ताओं ने अपने भाव को सिद्ध करने के लिए पूर्व प्रोक्त अंशों को आवश्यकतानुसार ग्रहण कर लिया है। उन्हें पढ़कर यह प्रतीत होता है कि इस अंश को पुनः ग्रहण करने की नितान्त आवश्यकता नहीं थी। अनावश्यक रूप से पुनरावृत्त वे अंश उसके प्रक्षेप होने का संकेत देते हैं। यथा—

(क) मनु सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए, क्रमानुसार जगत् की प्रकटावस्था के माध्यम से ही परमात्मा की प्रकटता-रूप उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ (१।६॥)

अर्थ — तब अपने कार्यों को सम्पन्न करने में स्वयं समर्थ, महत्, पञ्चमहाभूत आदि तत्वों को उत्पन्न करने की अमित शक्ति से युक्त, स्थूलरूप में प्रकट न होने वाला परमात्मा इस समस्त संसार को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट हुआ।

इससे अगला ही श्लोक है—

योऽसावतीन्द्रियग्राह्य : सूक्ष्मोऽव्यक्त : सनातन : ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य : स एव स्वयमुद्बभौ ।। (१ । ७ ।।)

अर्थ – जो यह परमात्मा इन्द्रियों से ग्रहण न कर सकने योग्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सब प्राणियों का आश्रयस्थान और अचिन्त्य है ; वही अपने आप उत्पन्न हुआ ।

इस श्लोक में कोई नयी बात न होकर कुछ नए विशेषणों के साथ छठे श्लोक के भावों को ही पुन : कह दिया है । छठे श्लोक में परमात्मा का प्रकट होना कहा था, इसमें भी केवल परमात्मा की उत्पत्ति कही है । '**अव्यक्त :**' की ज्यों की त्यों और '**स्वयम्भू :**' की '**स एव स्वयमुद्बभौ**' के रूप में पुनरुक्ति है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति' के आधार पर यह श्लोक प्रक्षिप्त है ।

यह पुनरुक्ति क्यों की गई ? प्रसंगानुसार यह स्पष्ट कर देना भी इसको प्रक्षेप समझने में पोषक सिद्ध होगा । छठे श्लोक में परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति, जगत् की प्रकटता के रूप में ही मानी है अर्थात् वैसे तो परमात्मा अव्यक्त है, प्रकट जगत् से ही उसका होना अनुमित होता है । किन्तु अग्रिम ७-१३ श्लोक पौराणिक कल्पना के आधार पर किये गये प्रक्षेप हैं जिनमें ब्रह्मा की उत्पत्ति दर्शायी गयी है । उसे सिद्ध करने के लिए ही सातवें श्लोक में '**योऽसौ**' कहकर एक नया प्रसंग शुरू किया गया । उसकी भूमिका के लिए प्रक्षेपक को विवश होकर यह पुनरावृत्ति करनी पड़ी, अन्यथा एक बार छठे श्लोक में कहने के बाद उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी । यह ब्रह्मा की उत्पत्ति का प्रसंग मनुस्मृति की उत्पत्ति-प्रक्रिया (१४-२१) के विरुद्ध है । इसे मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए यह प्रसंग डाला गया है । किन्तु कपड़े के पैवन्द की तरह यह स्पष्टत : प्रक्षिप्त दिखाई पड़ रहा है ।

(ख) पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भि : साध्वीति चोच्यते ।। (५ । १६५ ।।

(या) जो स्त्री (मन :-वाक्-देह-संयता) मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर (पतिम् न + अभिचरति) पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती (सा) वह (भर्तृलोकम् + आप्नोति) पतिलोक अर्थात् पति के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करती है (च) और (सद्भि : 'साध्वी' + इति उच्यते) श्रेष्ठ लोग उसको 'पतिव्रता या अच्छी पत्नी' कहकर प्रशंसा करते हैं ।। १६५ ।।

इस श्लोक की ९ । २९ में अक्षरश : पुनरुक्ति है, जो अनावश्यक है । अत : ९ । २९ स्थल पर यह पुनरुक्ति प्रक्षेप माना गया है ।

(ग) ५ । १३४ श्लोक भी ९ । ३० में अक्षरश : पुनरुक्त है । वह अन्य आधारों पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होता है, अत : दोनों स्थानों पर ही प्रक्षिप्त माना गया है ।

(घ) ८ । ३४२ में शस्त्र औषध आदि चुराने वाले चोरों को देशकाल के अनुसार दण्ड देने का कथन हो चुका है —

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् । (८ । ३२४ ।।)

अर्थ — हाथी आदि बड़े पशुओं, शस्त्रों तथा औषध की चोरी पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

इसकी पुनरुक्ति —

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत ।। (९ । २९३ ।।)

अर्थ — खेती के उपकरण हल आदि, शस्त्रों तथा औषध की चोरी करने पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

यहां पहले पद को छोड़कर शेष बातों की यथावत् पुनरुक्ति है । पूर्व श्लोक अपने प्रसंग में है और यह अप्रासंगिक रूप से उक्त है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति' होने से यह प्रक्षिप्त है ।

५. शैलीगत आधार अथवा शैली-विरोध —

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति का प्रणेता एक ही व्यक्ति है । मनुस्मृति की शैली गम्भीर, संतुलित, साधार, युक्तियुक्त एवं पक्षपात की भावना से रहित है ; किन्तु बीच-बीच में अतिसामान्य, निराधार, अयुक्तियुक्त,अतिशयोक्तिपूर्ण और पक्षपातपूर्ण शैली के श्लोक भी आजाते हैं । यह निश्चित है कि यह विरोधी भिन्नता एक ही प्रणेता की शैली में नहीं हो सकती । मनु एक विद्वान् ऋषि थे, अत : कहा जा सकता है कि दूसरी शैली के श्लोक मनुप्रोक्त न होकर प्रक्षिप्त हैं । मनुस्मृति के अनुशीलन से जो शैलियां मनुसम्मत प्रतीत नहीं हो पाईं,उन्हें दो विभागों में रखा गया है ।

१. मनु की शैली से भिन्न शैलियां —

क. रचना-शैली-सिद्ध भिन्नताएं ।

२. वर्णन-शैली से विरुद्ध शैलियां —

ख. निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली ।

ग. अतिशयोक्तिपूर्ण शैली ।

घ. पक्षपातपूर्ण शैली (घृणा, निन्दा, अपशब्द, ऊंच-नीच, स्पृश्यास्पृश्यप्रेरित) ।

मनुसम्मत मौलिक शैलियां न होने के कारण इन शैलियों के श्लोकों को प्रक्षिप्त माना गया है । मनु की मौलिक शैलियों की विस्तृत समीक्षा 'मनुस्मति की शैलियां' शीर्षक विवेचन में की गई है । शैलियों के निर्धारण की पद्धति पर भी वहीं विचार किया गया है । यहां केवल संक्षिप्त स्पष्टीकरण के साथ उनके उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं ।

(क) रचना-शैलीसिद्ध भिन्नता —

रचना की दृष्टि से मनुस्मृति की 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत : प्रवचन है । मनुस्मृति में प्रवचन के लिए जितने भी विषय या प्रकरण चुने गये हैं उनके प्रारम्भ या समापन में अथवा दोनों स्थानों पर क्रमश : उनके प्रारम्भ करने और समापन करने का प्रयोग किया है । इन सभी स्थानों पर 'सुनने-सुनाने' की क्रियाओं का प्रयोग किया है । ये सभी प्रवचन एक शैली में शृंखलावत् जुड़े हुए हैं । इस शैली के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं —

(अ) मनुस्मृति मूलत : कोई पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं था । मनु द्वारा ऋषियों की जिज्ञासा के उत्तर में जो प्रवचन दिये गये, उनका संकलन होने पर वह'शास्त्र'कहलाया । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रवचनों को कोई प्रवक्ता स्वयं 'शास्त्र' नहीं कह सकता, अथवा क्रमश : दिये जा रहे अपने प्रवचनों को ग्रन्थ के रूप में वर्णित नहीं कर सकता है । यह रूप तो बाद में बनता है । इसलिए मनुस्मृति में जहां भी इसे पूर्वनिबद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थ' के रूप में वर्णित किया है,वे श्लोक परवर्ती काल में किये गये प्रक्षेप हैं, जबकि मनुस्मृति संकलित होकर निबद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थरूप में आ चुकी थी । यथा —

(१) इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मण :शंसितव्रत : ।
मनो वाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ।।(१ । १०४ ।।)

अर्थ —इस शास्त्र को पढ़कर इसके अनुसार कर्त्तव्य व्रतों को करने वाले ब्राह्मण को मन वाणी और देह के कर्मों से उत्पन्न होने वाले दोष (पाप) नहीं लगते ।

(२) नै :श्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषत : ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ।। (१२ । १०७ ।।)

अर्थ —मोक्ष-प्राप्ति के साधक सब कर्मों का वर्णन कर दिया । अब मानवशास्त्र के रहस्य का उपदश किया जाता है ।

इस प्रकार के श्लोक मनुस्मृति-परम्परा के शिष्यों द्वारा प्रशंसा और महत्त्ववर्धन की दृष्टि से मिलाये गये हैं ।

(आ) इस प्रकार इस शैली में,मूल प्रवचनों के संकलन में स्वयं मनु का नाम भी प्रयुक्त नहीं हो सकता और न भृगु का नाम आना ही युक्तसंगत जंचता है । इसलिए जो भी श्लोक मनु और भृगु के नाम से वर्णित हैं,वे इस शैली के आधार पर प्रक्षिप्त हैं । उनकी भाषा-प्रयोग-शैली भी यही सिद्ध करती है कि वे मनुप्रोक्त बातों का मूलसंकलन नहीं हैं । वे उनके नाम से किसी अन्य व्यक्ति ने बनाये हैं । कुछ लोगों का विचार है कि उनका आशय मनु का आशय है, अत : उनके नाम से उनका उल्लेख है । यह भी युक्तिसंगत बात नहीं है कि वह मनु का आशय है । संभव है किसी अन्य व्यक्ति ने अपना आशय मनु के नाम से वर्णित कर दिया हो । यह तो एक ऐसा छिद्रद्वार बन जाता है कि चाहे कोई भी अपने अभीष्ट आशय को मनु का आशय बताकर कितने ही श्लोक बनाकर मिला दे ; अत : यह मान्य नहीं है । वास्तविकता भी यही है कि परवर्ती लोगों ने मनु के नाम पर अपने आशयों को मिलाया है । यदि यह मानें कि मनु के शिष्य भृगु ने उनके आशयों का वर्णन उनके नाम से किया है,तो इसमें भी कई संदेह रह जाते हैं – (१) इसका मतलब भृगु ने वास्तविक रूप में मनु के प्रवचनों का संकलन नहीं किया, (२) यदि वास्तविक रूप में है,तो कहीं बिना नाम के,और कहीं नामोल्लेखपूर्वक,दो पद्धतियां क्यों अपनायी हैं ? जब संकलन शैली में अन्य अधिकतर बातों का वर्णन मूलरूप में हुआ है तो कहीं-कहीं मनु का नाम देकर विधान करनें की क्या आवश्यकता थी ? (३) और भृगु नाम वाले श्लोक मनु के संकलन में कैसे आये ? मनुस्मृति में उनकी क्या तुक है ?

इस प्रकार मनुस्मृति को प्रक्षेपकों ने मनचाहा 'भण्डारघर' बना लिया है । इस शैली से यह निश्चित हो जाता है कि इस प्रकार मनु और भृगु नाम वाले सभी श्लोक मूलरूप नहीं हैं,अपितु परवर्तीकाल में उनके शिष्यों ने रचकर डाल दिये हैं । जैसे,मनु के नाम वाले श्लोक –

१. य : कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित :
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि स : ।।
(२ । ७ ।।)
(इस संस्करण में १ । १२६)

अर्थ – मनु ने जिस किसी का जो भी धर्म (कर्तव्य) बताया है वह सब वेदोक्त है । क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त है ।

२. दश स्थानानि दण्डस्य मनु : स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ।।(८ । १२४ ।।)

अर्थ – स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के दश स्थान बताए हैं । जिन पर क्षत्रियादि तीन वर्ण वालों को दण्ड देना चाहिये । और ब्राह्मण को दण्ड के बिना ही छोड़ देना चाहिए ।

३. ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।
अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ।। (८ । १३९)

अर्थ – मनु का ऋणादि के विवाद में यह दण्ड का प्रकार है कि यदि ऋण लेने वाला न्यायसभा में आकर ऋण को स्वीकार कर लेता है, तो उस पर पांच प्रतिशत दण्ड करे और यदि वहां भी झूठ बोले या छिपावे तो दश प्रतिशत देना चाहिए ।

भृगु के नाम से वर्णित श्लोक –

१. एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ।। (१ । ५९ ।।)

अर्थ – यह भृगुमुनि आप सब को सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे । इस मुनि ने यह समस्त शास्त्र मुझ से पढ़ा है ।

२. स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।। (५ । ३ ।।)

अर्थ – उस धर्मात्मा भृगु मुनि ने महर्षियों से कहा कि जिस दोष के कारण विप्रों (विद्वानों) को मृत्यु मारना चाहती है, उसे सुनिये ।

३. इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ।। (१२ । १२६ ।।)

अर्थ – इस भृगु-प्रोक्त मानव-धर्मशास्त्र को पढ़ता हुआ द्विज सदाचारी बन जाता है और इच्छानुसार गति कोप्राप्त करता है ।

(ङ) जैसा कि अभी 'क' खण्ड में दर्शाया गया है कि मनु की शैली किसी भी विषय अथवा प्रकरण के प्रारम्भ अथवा समाप्ति पर,या दोनों ही स्थानों पर,उद्दिष्ट विषय का संकेत देने की है । यदि किसी स्वतन्त्र प्रकरण में अथवा एक प्रकरण की समाप्ति होने पर, प्रारम्भ की गई चर्चाओं के आद्यन्त में, उस विषय का संकेत नहीं मिलता,तो उससे यह संकेत मिलता है कि वह प्रकरण मनु की शैली का नहीं है । यथा –

१. प्रथम अध्याय के १११-११८ श्लोकों में मनुस्मृति की विषयसूची का प्रसंग एक स्वतंत्र और पूर्वापर प्रसंग से भिन्न प्रसंग है, किन्तु इस प्रसंग के न तो पूर्व ही उद्दिष्ट विषय का संकेत है और न समाप्ति पर । अतः यह मनु की शैली का प्रसंग नहीं है ।

२. ग्यारहवें अध्याय के १-४३ श्लोकों में स्वतन्त्र दान का तथा अन्य फुटकर प्रसंग हैं, किन्तु उसके प्रारम्भ और समाप्ति पर विषय का संकेत नहीं है । ४३ श्लोकों में वर्णित विषय का कोई संकेत न होना, इस प्रसंग को मनु की शैली का सिद्ध नहीं करता । अतः यह भी प्रक्षिप्त है ।

(ख) निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली –

जहां कारण-कार्य या साधन-साध्य का पारस्परिक सम्बन्धरहित वर्णन किया गया हो, जिस विधान की कोई बुद्धिसंगत स्थिति न हो अथवा तो तर्क के आधार पर पुष्ट नहीं होता, ऐसा वर्णन निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली का है । मनु ने प्रत्येक विधान और वर्णन को साधार एवं युक्तियुक्त ढंग से

वर्णित किया है और धर्मनिर्णय के लिए तर्क को भी एक प्रमुख आधार माना है (१२।१०६, १११)। मनु के इस दृष्टिकोण के अनुसार उक्त शैली के श्लोक मनुकृत न मानकर प्रक्षिप्त माने गये हैं। यथा –

धान्यं हृत्वा भवत्याखु : कांस्यं हंसो जलं प्लव : ।
मधु दंश : पय : काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ।। (१२ । ६२ ।।)

अर्थ – धान्य चुराने वाला चूहा, कांसा चुराने वाला हंस, जल की चोरी करने वाला जलमुर्ग, मधुचोर डांस, दूधचोर कौआ, रस चुराने वाला कुत्ता ओर घी चुराने वाला नेवला बनता है।

यहां उक्त चोरियों का और उनके फलस्वरूप में वर्णित जन्मों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, अत : यह कथन निराधार एवं अयुक्तियुक्त है।

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहत : ।। (४ । ५२ ।।)

अर्थ – अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण और गाय तथा वायु इनकी ओर मुख करके लघुशंका करने वाले व्यक्ति की बुद्वि नष्ट होती है।

यहां भी उक्त वस्तुओं की ओर मुख करने का और बुद्वि नष्ट होने का कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार निम्न विधान भी अयुक्तियुक्त और निराधार हैं –

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधुं चतुष्पथम् ।
पदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ।। (४ । ३९ ।।)

अर्थ – मिट्टी, गाय, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्व वृक्ष, इनको दांयभाग की ओर रखता हुआ बायीं ओर से जाये।

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्त : शारीरं संनिवेश्य च ।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति । (११ ।२०२ ।।)

अर्थ – पीड़ित व्यक्ति जल के विना और जल में शरीर के मल-मूत्र को त्यागकर वस्त्ररहित स्नान करे और जल से बाहर आकर गौ का स्पर्श करे, इस प्रकार वह शुद्व होता है।

(ग) अतिशयोक्तिपूर्ण शैली —

अभिष्ट सिद्वि की प्रवृत्ति से जहां किसी बात को आवश्यकता से अधिक बढ़ा चढ़ाकर वर्णित किया गया है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण शैली है ' मनु की शैली में संतुलित वर्णन है। मनुस्मृति एक विधानशास्त्र है, अत : उसमें वर्णित प्रत्येक विधान, प्रत्येक धर्म-अधर्म का कथन यथावत् होना चाहिए\कहीं-कहीं यह यथावत्ता नहीं है, यथा —

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्त्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्णस्य नरकं प्रतिपद्यते ।। ११ । २०६ ।।

अर्थ — ब्राह्मण को मारने की इच्छा से दंड को उठाने मात्र से सौ वर्ष तक और दंडप्रहार करके मारने वाला हजार वर्ष नरक में रहता है।

शोणितं यावत : पांसून्गृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ।। (११ । २०७ ।।)

अर्थ — ब्राह्मण के शरीर से निकले रक्त से पृथ्वी के जितने रजकण भीगें, दण्डप्रहार करके ब्राह्मण के शरीर से रक्त निकालने वाला व्यक्ति उतने ही सहस्र वर्ष पर्यन्त नरक में पड़ा रहता है ।

अतिशयोक्तिपूर्ण शैली होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं, अत एव प्रक्षिप्त हैं ।

(घ) पक्षपातपूर्ण शैली —

जहां किसी वर्ग, व्यक्ति या बात की, उपयुक्त आधार या कारण के बिना विशेष पक्षधरता अपनायी गई है ; अथवा किसी वर्ग या व्यक्ति की घृणा, निन्दा, ऊंच-नीच, छूआ-छूत आदि से प्रेरित होकर अनुपयुक्त अवमानना की गई हो ; वह पक्षपातपूर्ण शैली है । मनु की शैली में उपयुक्त 'आधार' या कारण के आधार पर ही प्रशंसा या निन्दा है, पूर्वाग्रहबद्धता पूर्वक पक्षपात की प्रवृत्ति से नहीं । बीच-बीच में पक्षपात की भावना से ओतप्रोत श्लोक भी आते हैं वे मनुप्रोक्त नहीं है —

ब्राह्मणवर्ग के लिए विशेष पक्षपात —

(अ)स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वंवस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जना:॥(१ । १०१ ।।)

अर्थ —ब्राह्मण जो कुछ खाता है, पहनता है, देता है, वह सब उसका ही है — यह सब ब्राह्मण का ही है । अन्य जो लोग खाते है, वे सब ब्राह्मणों की कृपा से खाते हैं ।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयो : पिता ।।(२ । १३५ ।।)

(इस संस्करण में २ । ११०)

अर्थ —दश वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय, पिता-पुत्र के बराबर हैं । उनमें ब्राह्मण पिता के तुल्य है ।

स्त्रियों के लिए पक्षपात–पूर्ण विधान —

(आ) विशील : कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित :
उपचर्य: स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पति: ।।(५ । १५४ ।।)

अर्थ — पतिव्रता स्त्री को दुष्टस्वभाव वाले, परस्त्रीगामी और गुणहीन पति की भी सदा देवताओं के समान पूजा सेवा करनी चाहिए ।

अछूत की भावना से प्रेरित पक्षपातपूर्ण शैली —

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ।
अस्वर्ग्या ह्याहुति : सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ।।(५ । १०४ ।।)

अर्थ – जब तक अपने वर्ग के व्यक्ति विद्यमान हैं, तबतक ब्राह्मण के शव को शूद्रों से नहीं उठवाना चाहिये । क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित शरीर की आहुति स्वर्ग में नहीं पहुंचाती ।

घृणा और निन्दायुक्त शैली –

(ई) वृषलीफेनपीतस्य नि :श्वासोपहतस्य च ।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ।।(३ । १९ ।।)

अर्थ – विवाह करके शूद्र स्त्री के अधरपान करने वाले का, और जिसके मुख पर शूद्रा का श्वास लगा हो, जो शूद्रा के गर्भ मे उत्पन्न हुआ हो ; उसका कभी (निस्तार) नहीं हो सकता ।

ऊंच-नीच की भावना से प्रेरित पक्षपातपूर्ण शैली –

(उ) सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टज : ।

कट्यां कृताङ्के निर्वास्य: स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ।।(८।२८१।।)

अर्थ – जो शूद्र ब्राह्मण के समान आसन पर बैठना चाहे तो उसकी कमर पर दगवाकर उसे देश निकाला दे दे अथवा नितम्बों को कटवा दे ।

उपर्युक्त सभी श्लोक पक्षपातपूर्ण शैली के होने से मनुप्रोक्त सिद्ध नहीं होते. अत : प्रक्षिप्त हैं ।

६. अवान्तरविरोध —

मनुस्मृति में कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें अन्धाधुन्ध मिलावट हुई है । एक प्रक्षिप्त प्रसंग के अन्तर्गत ही अनेक पारस्परिक विरोध पाये जाते हैं । इन विरोधों से कुछ निष्कर्ष सामने आते हैं — (१) विवादास्पद विषयों में ही अधिक प्रक्षेप हुए हैं, (२) इतने विरोध किसी एक लेखक की रचना मे नहीं हो सकते, (३) प्रक्षेप भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा —(४) भिन्न-भिन्न समयों में किये गये हैं (५) ऐसे विरोधात्मक वर्णन मनुसदृश विद्वान् की रचना नहीं हो सकते है (६) अत: वह प्रसंग प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक है । एक प्रक्षिप्त प्रसंग में ही परस्पर पाये जाने वाले विरोध को 'अवान्तर विरोध' कहा गया है । यह आधार एक सहयोगी आधार के रूप में लिया गया है । इसके प्रदर्शन से उपर्युक्त निष्कर्ष स्पष्ट हो जाते हैं, और उस प्रसंग की अप्रामाणिकता और प्रक्षिप्तता पुष्ट हो जाती है । जैसे —

३ । १२२ से २४८ तक श्राद्ध-वर्णन का प्रसंग है, जो अन्तर्विरोध, प्रसंगविरोध आदि के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । साथ ही उस प्रसंग में प्राप्त होने वाले अवान्तरविरोध उसकी प्रक्षिप्तता और अप्रामाणिकता को पुष्ट कर देते हैं और यह संकेत देते हैं कि स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ के अनुसार पूर्वापर प्रसंग देखे बिना ही मनचाहे प्रक्षेप करके अपनी मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के प्रयास किये हैं । इस प्रसंग में कुछ अवान्तरविरोध इस प्रकार हैं —

(अ) १२९ वें श्लोक में कहा गया है कि देवकर्म में वेदहीन ब्राह्मण को नहीं जिमाना चाहिए, और १४९ में कह दिया कि श्राद्धदाता देवकर्म में जिमाते समय वेदादि के पढ़े लिखे की परीक्षा न करें अर्थात् ब्राह्मणमात्र होना ही पर्याप्त है ।

(आ) सम्पूर्ण प्रसंग में मांसभक्षण का विधान है और मांस की भरपूर प्रशंसा है, किन्तु १५२ में मांसविक्रेता ब्राह्मण को जिमाने का निषेध कर दिया । यदि मांसभक्षण पवित्र और प्रशंसनीय कार्य है तो मांसविक्रेताओं को निन्द्य क्यों माना गया ?

(इ) १५१ वें श्लोक में श्राद्ध-कर्म में ब्रह्मचारी को जिमाने का निषेध है, और १८६, १९२, २३४ में श्राद्ध में जिमाने का विधान है । इतना ही नहीं इनमें उसे पंक्तिपावन (श्राद्ध की पंक्ति को पवित्र करने वाला) तक माना है ।

(ई) १९६ –१९७ श्लोकों में शूद्रादि सभी वर्णों के लिए श्राद्ध करना कहा है, और २४१ आदि में शूद्र के स्पर्श का निषेध, शूद्र के देखने मात्र से श्राद्ध के पुण्य का नष्ट हो जाना आदि प्रदर्शित है ।

(उ) १३८ में मित्र ब्राह्मण को श्राद्ध में जिमाने का निषेध है, किन्तु १४४ में जिमाने का विधान है ।

(ऊ)१६७ –१७३ तक के श्लोकों में विभिन्न मांसों से कई-कई मास, वर्ष और अनन्त काल तक पितरों की तृप्ति मानी है । यदि एक बार के श्राद्ध से इतनी तृप्ति हो जाती है तो उनको पुन : पाक्षिक मासिक श्राद्ध की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

७. वेद-विरुद्ध —

मनुस्मृति के १।३।। २।६ (इस संस्करण में १।१२५) ९–१५।। १२। ९३–९९, १०९–११३ श्लोकों से यह विदित होता है कि मनु वेद को ही धर्म का मूलाधार मानते हैं और उनकी मनुस्मृति भी वेदानुकूल है। अन्य परवर्ती स्मृतियों ने भी मनुस्मृति को वेदानुकूल घोषित किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुस्मृति में कोई मान्यता वेदविरुद्ध नहीं होनी चाहिए। जो वेदविरुद्ध होगी, वह मनु की मान्यता के आधार पर प्रक्षिप्त ही मानी जायेगी। यहां यह स्पष्टीकरण भी उपयुक्त होगा कि वेद की मान्यताओं को निर्विवाद रूप में स्पष्ट करना अपने आप में एक जटिल कार्य है, अत: वेदों की जो मान्यताएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं, उन्हीं के अनुसार इस आधार का उपयोग किया गया है। विशेषत: उन विधानों में तो इस आधार का उपयोग करना अति-आवश्यक हो गया है जिनमें वेदों को उद्धृत करके वर्णन है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(१) निम्न श्लोकों में स्त्री-शूद्रों को वेदमन्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध है—

(क) अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषत:।।
(२।६६।।) (२।४१ इस संस्करण में)

अर्थ—स्त्रियों के संस्कार के लिए ये समस्त-कर्म बिना मन्त्र के करे।

(ख) सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।।(३।१२१।।)

अर्थ—सायंकाल पाकशाला में बनाये अन्न से पत्नी मन्त्रोच्चारण किये बिना बलि देवे।

(ग) नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ।।(४।९९।।)

अर्थ— वेदों को अस्पष्ट न पढ़े और शूद्र के सामने न पढ़े।

इन श्लोकों में वेदविषयक विधान स्वयं वेदविरुद्ध हैं। वेद में वेदाध्ययन सभी के लिए विहित है—

(क) ''यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।।(यजुर्वेद २६।२)

अर्थात्—''परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्य:) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेद आदि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो। यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही को वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्र आदि वर्णों का नहीं ? (उत्तर) — (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि, देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्री आदि (अरणाय) और अतिशूद्र आदि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है।'' (स. प्र. समु. तृतीय, पृ. ७४)

(ख) सभी व्यक्तियों को वेद पढ़ने का अधिकार होने और यज्ञ आदि वैदिक क्रियाए करने का अधिकार होने में वेदमन्त्र के साथ-साथ वेद के अंग 'निरुक्त का प्रमाण —

''यज्ञियास: पञ्चजना: मम होत्रं जुषध्वम्।।''
(ऋग्. १०।५३।४)

इस मन्त्र में पठित 'पञ्चजना.' पद की व्याख्या करते हुए यास्क ऋषि स्पष्ट करते हैं —

''**गन्धर्वा : पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा :, निषाद : पञ्चम इति औपमन्यव : । निषाद : कस्माद् ? निषण्णं अस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता पञ्चजनीनया विशा ।'' (३ । ८)**

अर्थात् — 'गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस, ये पांच प्रकार के व्यक्ति हैं, इन सब को यज्ञ करने का अधिकार है ; ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं । औपमन्यव का मत है कि चार वर्ण — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा निषाद = पापी इन सबको यज्ञ का अधिकार है । निषाद को 'निषाद' क्यों कहते हैं ? क्योंकि इस व्यक्ति के मन में पाप की भावना रहती है । इस प्रकार सभी मनुष्यों के ये पांच वर्ग हैं ।' यज्ञ में मन्त्रपाठ अवश्य होता है ।

(ग) स्त्रियों को वेदाध्ययन, विद्याप्राप्ति एवं ब्रह्मचर्याश्रम के विधान में वेद का प्रमाण —

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।'

(अथर्व. ३ । २४ । ११ । १८)

''जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों को पढ़ पूर्णविद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवक होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे । इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए ।

(प्रश्न) क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ?

(उत्तर) अवश्य, देखो श्रौतसूत्र आदि में —

'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ।।

अर्थात् — 'स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़ें । जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके । भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादिशास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं, शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है ।'

(स. प्र. तृतीय समु. पृ. ७५)

(आ) मनुस्मृति के पंचम अध्याय के २६ से ४२ श्लोकों में वेद का साक्ष्य देकर हिंसा का विधान है, वह साक्ष्य मिथ्या और वेदविरुद्ध है । वेद में तो हिंसा का निषेध है —

'यजमानस्य पशून् पाहि' (यजु. १।१)

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजु. ३६ । १८)

अत : वेदविरुद्ध होने से मनुस्मृति के सभी हिंसापरक श्लोक प्रक्षिप्त कहलायेंगे ।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक समझता हूँ कि उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त और भी 'आधार' बन सकते थे, या बन सकते हैं किन्तु अभी केवल सात ही आधारों पर कार्य किया है । अन्य आधारों का निर्माण कुछ का तो इसीलिए नहीं किया जा सकता कि वे दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं । उदाहरण के रूप में यह बहुत संभव है कि कुछ श्लोक स्थानभ्रष्ट हो गये हों, लेकिन हम यदि स्वयं उनका क्रम निश्चित करदें तो फिर कोई सीमित आधार नहीं रह जायेगा । कोई किसी श्लोक को कहीं रखेगा, कोई कहीं । ऐसे श्लोक जो स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुए और उनमें प्रक्षेप की कोई प्रवृत्ति लक्षित नहीं हुई, उन्हें उसी स्थान पर रखकर अपनी टिप्पणी देदी है । इसी प्रकार कुछ आधारों का निर्माण करना संभव ही नहीं लगा, जैसे — किसी एक पदभाग या पंक्ति के रूप में किये गये प्रक्षेपों को निकालना । इसी प्रकार मौलिक बचे श्लोकों में भी कुछ रचनाएं इस प्रकार की हैं जो निर्धारित

आधारों की सीमा में नहीं आतीं, किन्तु वे इतनी साधारण बातें हैं कि उन्हें मनु सदृश महर्षि की रचना कहने में सन्देह होता है।

इतना कार्य करने के बाद भी इस विषय में कार्य करना शेष रह जाता है। फिर भी अब जैसा संभव हो सका, मनुस्मृति के गदलेपन और विकृति को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया गया है, और इसमें कोई गर्वोक्ति की बात भी नहीं है कि इन 'आधारों' से मनुस्मृति का शुद्धिकरण करने से इसका गदलापन तो निश्चितरूप से दूर हो ही गया है।

६. प्रक्षेपों से हानियां एवं भ्रान्तियां

प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में स्वाभिमत प्रक्षेप करके अपना स्वार्थ एवं उद्देश्य तो सिद्ध कर लिया, किन्तु इस दुष्कृत्य से मनुस्मृति को गहरा आघात पहुंचा है । मनुस्मृति का अध्ययन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि उसका मौलिक रूप अत्यन्त शुद्ध, परिष्कृत, मानवतापूर्ण, पक्षपातदुराग्रहरहित एवं उच्चाशयों से युक्त था । प्रक्षिप्तों ने उस स्वरूप को विकृत करके गदला और भद्दा बना दिया । मनु की मौलिक व्यवस्थाओं को परिवर्तित करके मनु के उद्देश्य को संकीर्ण एवं कुण्ठित रूप दे दिया । प्रक्षिप्त वर्णनों के कारण आज मनुस्मृति को पाठकों की आक्षेपात्मक आलोचनाओं का शिकार होना पड़ रहा है । इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और अध्ययन के योग्य ग्रन्थ नहीं माना जाता । इस प्रकार प्रक्षिप्तों के कारण एक सुन्दर ग्रन्थ का अपमान हो रहा है । साथ ही अनेक भ्रान्तियाँ भी पनप गयी हैं । प्रक्षिप्तों के कारण हुई हानियों और भ्रान्तियों का अनुमान निम्न बातों से लगाया जा सकता है —

(१) भारतीय संस्कृति के स्वरूप में विकृति —

मनुकालीन समाज की संस्कृति अत्यन्त उच्च आदर्शों से अनुप्राणित, पक्षपात और दुराग्रहरहित व्यवस्थाओं से युक्त, मानवता और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थी । वर्णव्यवस्था का आधार कर्म थे (१।८७-९१)। घृणा की भावना व्यक्तियों के प्रति न होकर दुष्कर्मों के प्रति थी । परवर्ती काल में व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ विकृत एवं शिथिल हो गईं । वर्णव्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना मानी जाने लगी । ज्ञान-विद्या पर ब्राह्मणों का एकमात्र आधिपत्य हो गया । उन्होंने अपने को सर्वोच्च तथा पवित्र घोषित किया और स्त्री, शूद्र को घृणास्पद तथा अस्पृश्य बताया । अवान्तर काल की इन विकृत-व्यवस्थाओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उनका प्रक्षेप कर दिया और उन वर्णनों को पढ़कर ही आज यह माना जाने लगा कि ये विकृतियाँ मनुकालीन समाज में भी थीं । इन प्रक्षिप्तों के आधार पर ही आलोचक आज यह आक्षेप करते हैं कि **मनुकालीन समाज में जाति-पांति, स्पृश्यास्पृश्य की भावना, स्त्री-शूद्रों के प्रति हीनदृष्टि थी । शूद्रों के** प्रति पक्षपात और विद्वेषपूर्ण व्यवहार था । मांसभक्षण, पशुयज्ञ, बहुविवाह, आदि का प्रचलन था । इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण प्राचीन संस्कृति का स्वरूप भद्दा एवं विकृत हो गया । इतिहासकार तत्कालीन समाज और संस्कृति का जो इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं वह इन्हीं प्रक्षिप्तों पर आधारित होने से वास्तविक नहीं कहा जा सकता ।

(२) रचनाकाल-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ —

यद्यपि मनुस्मृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं तथापि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि मनुस्मृति उपलब्ध समस्त लौकिक संस्कृत-साहित्य से प्राचीन है और कुछ वैदिक साहित्य से भी (विस्तृत विवेचन पूर्व वर्णित है) । किन्तु कुछ आधुनिक **इतिहासकारों ने इसे महाभारत से भी परवर्ती और कुछ ने इसे शुंगकालीन माना है । यह रचनाकाल-**सम्बन्धी भ्रान्ति कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही हुई है । महाभारत से परवर्ती मानने वाले इतिहासकार निम्न श्लोकों को आधार मानते हैं —

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ।। (२।१९ ।।)

अर्थ — ब्रह्मावर्त से मिला हुआ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेनक देशों का प्रदेश ब्रह्मर्षि-देश कहलाता है।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाँशूरसेनजान्।
दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषुयोजयेत् ।। (७।१९३ ।।)

अर्थ — कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक देशों में उत्पन्न सैनिकों को, जो लम्बे या छोटे कद के होते हैं, उनको सेना के अगले भाग में रखें।

इन श्लोकों में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक नामों का उल्लेख है, अत : विद्वानों का विचार है कि मनुस्मृति इनसे परवर्ती है। किन्तु ये दोनों ही श्लोक परवर्ती हैं।

इसी प्रकार कुछ अत्याधुनिक परम्पराओं के कारण, कुछ वाममार्गीय परंपराओं के कारण मनुस्मृति को शुंगकालीन घोषित किया गया, जैसे- बालविवाह का विधान, मद्य-मांस का विधान आदि। वे इस प्रकार के श्लोक हैं —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर : ।। (९।९४ ।।)

अर्थ -- गृहस्थ-धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की सुन्दर कन्या और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।। (५।५६ ।।)

अर्थ — माँस-भक्षण, शराब पीना और व्यभिचार में कोई दोष नहीं है। यह तो प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु इनसे निवृत्ति होना अतिलाभदायक है।

ये श्लोक भी पक्षिप्त हैं। इस प्रकार प्रक्षिप्त श्लोकों ने मनुस्मृति के काल के सम्बन्ध में विवाद पैदा कर दिया और अनेक इतिहासकारों को इसका कालनिर्णय करने में भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है।

(३) साहित्यिक अवमूल्यन

अपने मौलिक रूप में मनुस्मृति उत्कृष्ट एवं शिक्षाप्रद ग्रन्थ है। इसमें मनु के हितकारी, शान्तिप्रद और मार्गदर्शक प्रवचन हैं। इनमें अधिकांश प्रवचन ऐसे हैं, जिन्हें जीवन के शाश्वत और सार्वभौमिक सिद्धान्त कहा जा सकता है। इसी कारण भारतीय साहित्य में मनुस्मृति का शीर्षस्थान रहा; किन्तु आज प्रक्षिप्तों के कारण इसे रूढ़िवादी ग्रन्थ माना जाने लगा है, और विभिन्न विकृतियों के कारण इसे साहित्य में सम्मानित स्थान और महत्त्व नहीं दिया जाता। प्रक्षेपों से मनुस्मृति की साहित्यिक गरिमा का हनन हुआ है।

(४) प्रामाणिकता में सन्देह

विभिन्न विरोधी बातों के प्रक्षेपों के कारण आज पाठक मनुस्मृति की प्रामाणिकता में ही संदेह करने लगे हैं। मनुस्मृति का रचयिता कौन है, और क्या यह मनुस्मृति वास्तविक है, इत्यादि प्रश्न प्रक्षेपों के कारण और अधिक उलझ गये हैं। जैसे —

निम्न श्लोक से मनुस्मृति मनुप्रोक्त सिद्ध होती है -

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षय :।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ।। (१।१ ।।)

अर्थ — एकाग्रचित्त होकर बैठे मनु जी के सामने महर्षि उपस्थित हुए और उनका योग्य सत्कार करके मनु जी से इस प्रकार कहने लगे।

किन्तु निम्न श्लोक इसे भृगुप्रोक्त सिद्ध करता है —

एतद्वो ऽ यं भृगु :शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत : ।। (१।५९ ।।)

अर्थ — इस धर्म-शास्त्र को भृगुमुनि आप सब ऋषियों को सम्पूर्णस्वरूप में सुनायेंगे।

निम्न श्लोकों से मनुस्मृति मूलत : ब्रह्माप्रोक्त सिद्ध होती है —

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभु : ।। (११।२४३ ।।)

अर्थ — प्रजापति ने इस धर्मशास्त्र को तपस्या करके बनाया।

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादित : ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।।(१।५८ ।।)

अर्थ — मनुजी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिपूर्वक मुझे उपदेश दिया। और फिर मैंने मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया।

इसी प्रकार अन्य परस्परविरोधी, प्रसंगविरोधी वर्णन भी मनुस्मृति में मिलते हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक का सिर चकराने लगता है और फिर उसे इसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा होता है।

(५) मनु के व्यक्तित्व पर आंच —

महर्षि मनु को धर्मप्रवक्ता के रूप में सभी ने सर्वोच्च स्थान दिया है। परवर्ती शास्त्रों, ऋषि-महर्षियों ने एकमत से मनु के विधानों को प्रमाण माना है और उन्हें प्रामाणिक, अधिकारी विद्वान्। **''यद्वै किंच मनुरवदत् तद् भैषजम्''** (जो कुछ मनु ने कहा है, वह औषध है —तै. सं. २।२।१०२) कहकर उन्हें सर्वाधिक आदर दिया। किन्तु परवर्ती पक्षपात —, दुराग्रहबद्ध, रूढ़, अन्धविश्वास और घृणा-विद्वेष से प्रेरित प्रक्षेपों के कारण पाठकों की दृष्टि में मनु की प्रतिष्ठा धूमिल हो गई। पाठकों के लिए प्रक्षेपों की परीक्षा तो सम्भव न हो सकी, किन्तु उन्होंने यह अवश्य मान लिया कि इस प्रकार का वर्णन करने वाला व्यक्ति कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रक्षेपों ने मनु के व्यक्तित्व का हनन किया है।

(६) मनुस्मृति के प्रति घृणा का दृष्टिकोण —

ऊपर-वर्णित घिनौनी और अमानवीय बातों का मनुस्मृति में उल्लेख देखकर आज के व्यक्ति इसके प्रति उपेक्षा और घृणा की भावना रखने लगे हैं। कोई-कोई इसे 'स्वार्थी ब्राह्मणों का पोथा' कहकर मजाक उड़ाते है। विशेषत : निम्नवर्ग तो इस के प्रति इसलिए आक्रोश प्रकट करते हैं, क्योंकि इसमें उनके प्रति पक्षपात और विद्वेष का वर्णन है। स्त्रियों की निन्दा देखकर स्त्रीवर्ग की भी इस ग्रन्थ के प्रति उदासीनता की भावना है। यह सब प्रक्षेपों के कारण है।

इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति को विभिन्न हानियां हुई हैं और उस के सम्बन्ध में **भ्रान्तियां जन्मी हैं। अत : यह आवश्यक है कि मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके उन्हें दूर** किया जाये जिससे मनुस्मृति का मौलिक शुद्ध रूप सामने आ सके। प्रक्षेपों के निकल जाने पर ही मनु एवं मनुस्मृति के प्रति जनता की श्रद्धा जाग सकती है तभी मनुकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास का वास्तविक चित्र सामने आ सकता है।

तृतीय अध्याय

मनु की प्रमुख मौलिक मान्यताएं और उनकी मौलिकता के आधार

पिछले अध्याय में, मनुस्मृति में पाये जाने वाले प्रक्षिप्त श्लोकों और उनके अनुसंधान में सहायक 'मानदण्डों' पर लक्षण-उदाहरण सहित पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत करके प्रक्षेपानुसन्धान की पद्धति को स्पष्ट कर दिया गया है और भाष्य में भी उन-उन श्लोकों या मान्यताओं पर यथास्थान आधारभूत समीक्षा दी है, फिर भी इस विषय में बार-बार ये शंकाएं उठायी जाती हैं कि 'अमुक मान्यता को मौलिक क्यों माना गया ?' 'अमुक मान्यता को प्रक्षिप्त क्यों माना गया है ? 'आप जिसे प्रक्षिप्त घोषित कर रहे हैं, क्यों न उसे मौलिक स्वीकार किया जाये ?' आदि-आदि ।

पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कृतित्व के आधार पर निर्धारित प्रसंगविरोध, अन्तर्विरोध आदि सात मानदण्डों के अनुसार जो मान्यता मनुस्मृति-विरुद्ध सिद्ध होती है, वह प्रक्षिप्त मानी गयी है और मनुस्मृति-संगत मान्यता मौलिक । यहां मनु की कुछ प्रमुख मान्यताओं का, मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले उससे सम्बन्धित समग्र पक्ष-विपक्षात्मक विवरण को एकत्ररूप में प्रस्तुत करके, और अधिक विवेचन किया जाता है, जिससे ये मान्यताएं और इनको मौलिक मानने की पद्धति और अधिक स्पष्ट हो सके ।

मनुस्मृति की किसी भी मान्यता को मौलिक और प्रक्षिप्त मानने में सर्वसामान्य कारण या तर्क निम्न हैं —

१. मनुस्मृति के प्रतिपाद्य, उसकी आधारभूत भावनाओं —जो कि प्रसंग, विषय और शैली की दृष्टि से पूर्वापर क्रम से संगत हैं — के अनुकूल वर्णन या मान्यताएं मौलिक हैं, और इनके विरुद्ध प्रक्षिप्त हैं । ये प्रक्षिप्त 'अन्तर्विरोध' या 'परस्परविरोध' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

२. मनुस्मृति कुछ निधारित विषयों या प्रकरणों में आबद्ध है । किसी भी विषय के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर मनुस्मृति में उसका संकेत स्वयं किया गया है । उन विषय-संकेतों से सम्बद्ध वर्णन मौलिक हैं और उनसे बाहृय वर्णन प्रक्षिप्त हैं । ये प्रक्षेप 'विषयविरोध' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

३. मनुस्मृति के पूर्वापर प्रसंगक्रम से जुड़े हुए श्लोक मौलिक हैं, और उससे तालमेल न रखने वाले अथवा उस क्रम को भंग करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं । ये 'प्रसंगविरोध' के अन्तर्गत आते हैं ।

४. मनुस्मृति की संरचना और वर्णन पद्धति की कुछ सुनिश्चित शैलियां भी पायी जाती हैं ।[1] उन शैलियों में ढ़ले या अनुकूल वर्णन मौलिक हैं और उनसे विरुद्ध प्रक्षिप्त । इन सभी को शैलीगत आधार' के अन्तर्गत रखा गया है ।

५. मनु ने अपनी स्मृति का मूलस्रोत या आधार वेद को माना है,[2] अत : स्पष्ट है कि मनुस्मृति में वेदानुकूल पायी जाने वाली मान्यताएं मौलिक हैं और उसके प्रतिकूल पायी जाने वाली प्रक्षिप्त हैं । यह बात मनु ने स्वयं भी स्वीकार की है ।[3] इस प्रकार के प्रक्षेपों को 'वेदविरोध' की संज्ञा दी गयी है

६. प्रक्षेप करने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है । वह प्रक्षेप करने के पीछे 'निहितप्रवृत्ति'

१. शैलियों के परिज्ञान के लिए मनु. का पु., तृतीय अध्याय में शैलीगत आधार और चतुर्थ अध्याय में 'मनुस्मृति की शैली' शीर्षक द्रष्टव्य है ।

२. १।१२९ (२।१०) ; १।३ / १।१२५ (२।६), १।१२७, १२८, १३०-१३४ (२।८, ५, ११-१५) ; १।२१ ३१ ; १२।१०८, १०९, ११३, आदि ।

३. १२।९५-९६ ॥

कही जा सकती है । प्रक्षिप्त निर्धारण में इस प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखा गया है । इसको ध्यान में रखना इसलिए भी आवश्यक है कि प्राचीनकाल में स्मृति या हस्तलेखों के द्वारा ही विद्याएं या शास्त्र सुरक्षित रखे जाते थे । इसकी बहुत अधिक संभावना है कि किसी श्लोक में स्मृतिदोष से पूर्वापरक्रम में परिवर्तन आ गया हो, और फिर वैसा ही लेखबद्ध हो गया हो, अथवा हस्तलेख में त्रुटित होकर स्थानभ्रष्ट हो गया हो ।

इन तर्क या आधारों में से किसी श्लोक पर एक आधार ही लागू होता है, तो कहीं एक से अधिक भी । इन आधारों के अनुसार मनुस्मृति में मौलिक सिद्ध होने वाली कुछ प्रमुख मान्यताएं निम्न हैं —

१. मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मणा मान्य है, जन्मना नहीं —

मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर स्पष्ट और सांकेतिक रूप में ऐसे वर्णन हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण मूलत : कर्म से मानते हैं, जन्मना नहीं । किसी भी वर्ण में उत्पन्न बालक को माता-पिता अपने वर्ण या अन्य किसी भी वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं, किन्तु शैक्षणिक काल में अन्तत : वर्ण का निश्चय, उसके गुण, कर्म, स्वभाव-संस्कार आदि के आधार पर आचार्य करता है । बाद में कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमे परिवर्तन हो सकता है ।

(क) इस मान्यता के विधायक या संकेतक स्थल —

इस मान्यता को प्रदर्शित करने वाले निम्न स्थल मनुस्मृति में प्राप्त हैं । ये सभी मनुस्मृति की आधारभूत भावना के अनुरूप, संकेतित विषय के अन्तर्गत, प्रसंगसम्मत और शैली के अनुकूल हैं —

१।३१, ८७-९१ ; २।११-१४ (३६-३९), ७८(१०३), १०१(१२६), १४३(१६८) ; ४।२४५ ; १०।६५ ।।

इन सभी स्थलों का अनुशीलन और विश्लेषण करने के अनन्तर इस विषयक निम्न निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं —

(१) (क) यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानते तो उन्हें वर्णों के कर्मों का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं थी;क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जा रहा है तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे । यतो हि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए प्रतिपादित कर्मों को नहीं करता है. अपितु बहुत बार तो अज्ञान में विरोधी कर्म भी कर देता है । जब उस अवस्था में उसे जन्मत : ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति माना जा रहा है [१।९८] तो बाद में कर्मों के न करने या विरोधी कर्मों के करने से भी उसका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होना चाहिए । लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से स्पष्ट होता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और अवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं । यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाये तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्मव्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी । कोई पालन करे या न करे व्यवस्थाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा,क्योंकि उनका श्रेष्ठत्व-अश्रेष्ठत्व तो जन्म से ही निर्धारित हो ही चुका । लेकिन मनु ने कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है । निम्न श्लोकों में उनकी अत्यधिक स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है —

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।। (१०।६५ ।।)

अर्थात् —श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुणकर्मों

के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है । इसी प्रकार शूद्र के घर उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो जाता है । इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण-परिवर्तन समझना चाहिए ।

कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान — मनु ने इस श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर आधारित माना है । इस मान्यता के सम्बन्ध में अन्य विवेचन २।३१, ८७-९१ ; १०७, ११।११४ श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिये ।

(ख) श्लोक की पुष्टि में प्रमाण — प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी । इसके अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं । आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।५।१०-११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है —

''धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्ण : पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।। १ ।।
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।। २ ।।

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे ।। १।।

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ।। २ ।।'' (स. प्र. चतुर्थ समु.)

(२) अपने धर्म-कर्मों को पालन न करने पर कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है, ऐसा मनु का मत है । यथा —(अ) वेद न पढ़ने पर द्विज शूद्रता को प्राप्त करता है (**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय : ।।**(२।१६८) । (आ) सन्ध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत् होता है (**न तिष्ठति तु य : पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवत् बहिष्कार्य : सर्वस्मात् द्विजकर्मण : ।।**(२।१०३) । (इ) यथोक्त आयुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होकर द्विज न बनने वाले व्यक्ति 'व्रात्य' संज्ञक शूद्र कहलाते हैं [२।३७-४०] । (ई) नीचों की संगति से ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त करता है (**उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मण : श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ।।** (४।२४५) । इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से ही अश्रेष्ठ माना है और न जन्मना आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्मना इनका निर्धारण होता तो उक्तरूप से वे निम्न न बनते ।

(३) इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है और त्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह पुन : अपने वर्ण का हो सकता है । मनु ने यह मान्यता, 'व्रात्य' संज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण ब्राह्मण-वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में प्रकट की है [११।१९१-१९६] । इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है ।

(४) मनु ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बड़प्पन, गुणों की योग्यता के आधार पर माना है [२।१३६ १३७, १५४, १५६] । मनु की यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनु जन्म के आधार पर श्रेष्ठता या उच्चता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते, अपितु कर्म या गुणों को ही आधार मानते हैं ।

(५) मनु ने वर्णों के कर्म बतलाते हुए ''**लोकानां विवृद्धयर्थम्**'' (समाज की वृद्धि के लिए १।३१) और ''**सर्वस्यास्य तु गुप्त्यर्थम्**'' (इस समस्त जगत् की सुरक्षा के लिए १।८७) को

कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है । इन कारणों पर विशेष ध्यान देने पर यहां यह स्पष्ट मान्यता प्रकट हो जाती है कि मनु कर्मों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मानते हैं, जन्म के अनुसार नहीं । क्योंकि, यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, उच्च-निम्न निर्धारित हो गये तो उससे समाज या जगत् की क्या वृद्धि होगी ? केवल उच्च लोगों की वृद्धि होगी । अपितु वृद्धि भी कहां होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा । उसे अपने स्तर की उन्नति का अवसर ही कहां मिलेगा ? यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन निरर्थक होगा । इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है — वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजाएं नहीं बनायीं अपितु प्रजाओं की वृद्धि के लिये (प्रजाओं के लिए) चार वर्ण बनाये अर्थात् पहले प्रजाएं बनीं जो जन्मना समान थीं,फिर उनमें से गुण कर्मानुसार चार वर्ण निर्मित किये गये, जिससे समाज-व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे । इस प्रयोगपद्धति से भी कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है ।

(६) 'वर्ण' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है । निरुक्त में 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति दी है . . . **'वर्णो वृणोते :'** (२।१।४) अर्थात कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है । इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है —

''वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा : ।
गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णा : ।''

(ऋ. भा. भू. वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात् —गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण हैं ।

(७) वर्णों के नाम उनके कर्मानुसार रखे गये हैं । नामों की व्युत्पत्ति स्वयं उनके कर्मों का बोध कराती है (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १।८७-९१ श्लोकों पर द्रष्टव्य हैं) ।

(क) 'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक — वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना और व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण दिया है और नामों से वर्णों के कर्मों का भी बोध होता है । 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (अष्टा. ४।२।५९) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण' शब्द बनता है । इसकी व्युत्पत्ति है —**'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वर्तमानो विद्यादि उत्तमगुणयुक्त : पुरुष :'** अर्थात् वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है । मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों के रूप में वर्णित किया है ।

ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है । निम्न वचनों में ब्राह्मण के कर्तव्य उद्दिष्ट हैं —

(अ)**"आग्नेयो ब्राह्मण :"**(तां. १५।४।८) ।**"आग्नेयो हि ब्राह्मण :"**(काठ. २९।१०) = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = यज्ञादि से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण होता है ।

(आ)**"ब्राह्मणो व्रतभृत्"**(तै. सं. १।६।७।२) ।**"व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्"**(श. १२।८।२।४) = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = कर्मों को धारण करने वाला होता है । सत्य बोलना व्रत का एक रूप है ।

(इ)**"गायत्रो वै ब्राह्मणा :"**(ऐ. १।२८) ।**"गायत्रो यज्ञ :"**(गो. पू. ४।२४) ।**"गायत्रो वै बृहस्पति :"**(तां. ५।१।१५) = ब्राह्मण गायत्र होता है । गायत्र वेद, यज्ञ और परमात्मा को कहते हैं ।

(ख) 'क्षत्रिय' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक—(१) क्षणु — हिंसा अर्थ वाली (तनादि) धातु से 'क्त :' प्रत्यय के योग से 'क्षत :' शब्द की सिद्ध होती है और 'क्षत' उपपद में त्रैङ् = पालन करने अर्थ में (भ्वादि) धातु से '**अन्येष्वपि दृश्यते**' (अष्टा. ३।२।१०१) सूत्र से 'उ :' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना । 'क्षत्र एव क्षत्रिय :' स्वार्थ में 'इय :' होने से 'क्षत्रिय :' अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, '**क्षत्राद् घ :**' (अ. ४।१।१३८) सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घ :' प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द बना । '**क्षदति रक्षति जनान् क्षत्र :**' जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, '**क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स 'क्षत :' = घातादि :, तत स्त्रायते रक्षतीति क्षत्र :** = आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय' कहते हैं।ब्राह्मण ग्रन्थों में —'**क्षत्रं राजन्य :**'(ऐ. ८।२ ; ३।४)'**क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद् राजन्य :**' (श १३।१।५।३) = क्षत्रिय 'क्षत्र' का ही रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है ।

(२) यहां अपत्यार्थ में 'इय्' आदेश के योग से क्षत्रिय आदि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या मनु जन्म के आधार पर वर्ण मानते हैं ? इस शंका के निराकरण के लिए पुष्ट समाधान है । वंश केवल जन्म से ही नहीं अपितु विद्याजन्म से भी वंश चलता है । अष्टाध्यायी २।१।१९ में '**संख्यावंश्येन**' सूत्र में विद्या से जन्म माना है । मनुस्मृति २।११९ — १२३ श्लोकों में स्पष्टत : विद्या के आधार पर जन्म माना है । इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणभाव और विद्या के आधार पर भी अपत्य आदि सम्बन्ध होते हैं । जैसे सूर्य, वरुण आदि की कोई पत्नी या अपत्य आदि नहीं होते, किन्तु फिर भी कार्य-कारण और गुणग्राहिता आदि के आधार पर अदिति का पुत्र आदित्य, सूर्य की पत्नी सूर्या आदि, और — वरुणानी, मैत्रावरुण : आदि प्रयोग होते हैं ।

(३) क्षत्रिय के विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ७।१ से ९।२२५ श्लोकों में है ।

(ग) 'वैश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक — (१) ''**विश :मनुष्यनाम**'' (निघं. २ । ३) उससे भावार्थ में 'यत्',उससे स्वार्थ में 'अण्' । अथवा 'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यत्र्' छान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना । ''**यो यत्र-तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति स : 'वैश्य :' व्यवहारविद्याकुशल : जनो वा**''= जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध विद्याओं में कुशल जन 'वैश्य' होता है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में —

''**एतद् वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशव :**'' (तां. १८ । ४ । ६) ''**तस्माद् बहुपशुर्वैश्वदेवो हि जागतो (वैश्य :)**''(तां ६।१ १०) = पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य है ।

(२) वैश्य के विस्तार से कर्त्तव्यों का वर्णन द्रष्टव्य है ९ । २२५ –३३३ में ।

(घ) 'शूद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक — (१) शुच् –शोकार्थक (भ्वादि) धातु से '**शुचेर्दश्च**' (उणा. २ । १९) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय, उकार को दीर्घ, च को द होकर 'शूद्र' शब्द बनता है । **शूद्र : = शोचनीय : शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सेवायां साधुर अविद्यादिगुणासहितो मनुष्यो वा**'= शूद्र वह व्यक्ति होता है जो अपने अज्ञान के कारण किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया और जिसे अपनी निम्न स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है,अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण की चिन्ता की जाती है ऐसा सेवक मनुष्य।ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है — ''**असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्र :**'' (तै. ३ । २ । ३ । ९) असत : = अविद्यात : । अज्ञान और अविद्या से जिसकी निम्न

जीवनस्थिति रह जाती है, जो केवल सेवा आदि कार्य ही कर सकता है, ऐसा मनुष्य शूद्र होता है ।

(२) वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण को भी प्राप्त कर सकता है ।

[९ । ३५ ।। १० । ६५]

(३) शूद्र के कुछ विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४ –३३५ श्लोकों में है । उन श्लोंको से मनु की शूद्र-सम्बन्धी यह मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को जन्मना नहीं मानते तथा न घृणास्पद मानते हैं ।

(८) मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं इसमें अन्य प्रमाण भी हैं — (क) शूद्र को वे हीन नहीं मानते अपितु '**शुचि**' : = पवित्र '**उत्कृष्ट शुश्रूषु:**' आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हैं [९ । ३३५] । सबके घरों में सब प्रकार की सेवा करने वाला भला अपवित्र, अछूत, हीन कैसे हो सकता है ? (ख) मनु व्यक्ति को शूद्र इसलिए मानते हैं कि वह पढ़ता नहीं । उसका वेदाध्ययन रूपी दूसरा ब्रह्मजन्म नहीं होता|२ । १२६ में अज्ञानता के कारण ही यह कथन किया है — ''**यथा शूद्रस्तथैव स :**'' । ब्राह्मण – क्षत्रिय – वैश्यों कोद्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका ब्रह्मजन्म रूपी दूसरा जन्म होता है — '**द्विर्जायते इति द्विज :** । शूद्र को 'एकजाति :' न पढ़ने के आधार पर कहा जाता है । देखिए प्रमाण — '**ब्राह्मण : क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा : द्विजातय : । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्र : नास्ति तु पंचम : ।।**' १० । ४ ।। (ग) मनु कर्मों के आधार पर मनुष्यों के दो वर्ग मानते हैं — जो श्रेष्ठ धर्मकूल आर्य परम्पराओं में दीक्षित हैं,वे चारों वर्ण आर्य हैं १ (२) **इनमें अदीक्षित शेष सब दस्यु हैं [१०।४५]** । **(घ) मनु कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को** श्रेष्ठ = आर्य और अश्रेष्ठ = अनार्य = मानते हैं । १० । ५७–५८ में वे कर्मों के आधार पर इनकी पहचान करने को कहते हैं । ये सब बातें मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता को सिद्ध करती हैं ।

(९) १ । ३१ में भी मनु ने अपनी 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' की मान्यता का संकेत दिया है । १ । १६, २३, २६ –३० श्लोकों के द्वारा यह कहा जा चुका है कि एक साथ अनेक प्रजाएं उत्पन्न हुईं — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के रूप में प्रजाएं उत्पन्न नहीं हुईं, अपितु समान मनुष्यों के रूप में हुईं । फिर उन बहुत सारे मनुष्यों में से समाज की वृद्धि के लिए, एक व्यवस्था के रूप में चार वर्णों का मुख, बाहु, जंघा और पैर की साम्यता से (गुणकर्मानुसार) निर्माण किया । १ । ३१ में आलंकारिक रूप में यह कथन है । उक्त अंगों का जो स्थान और कार्य शरीर में है, समाज में वही स्थान क्रमश :ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का बनाया । इस प्रकार योग्यता के आधार पर लोगों को चार वर्णों में विभक्त करके उनके कर्म भी योग्यतानुसार निश्चित किये । यह वर्णनक्रम (अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति और फिर उनमें वर्णव्यवस्था) और आलंकारिक कथन कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का संकेत देता है । इन अनेक प्रमाणों से 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता सिद्ध होती है, अत : इसकी विरोधी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाली मान्यता अन्तर्विरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कहलायेगी ।

(१०) ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मणा वर्णव्यवस्था के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं । यथा —

(अ)"**स : (क्षत्रिय :) ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति ।।**'' (ऐ. ७ । २३)

क्षत्रिय दीक्षित होकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है ।

(आ) ''**तस्मादपि (दीक्षितम्) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते ।।**'' (शत. ३ । २ । १ । ४०)

चाहे कोई क्षत्रियपुत्र हो अथवा वैश्यपुत्र, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करके (उपनयनसंस्कार में) वह ब्राह्मण ही कहलाता है अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन के समय यज्ञ में दीक्षित होकर सभी व्यक्ति ब्राह्मण कर्म वाले होते हैं। बाद में कर्मानुसार क्षत्रिय और वैश्य बनते हैं।

(११) वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण — ऐतरेय ब्राह्मण २।१९ में कवष-ऐलूष नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। जन्मना निम्न जाति का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्चवर्णस्थ कहलाया —

(क) **''ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत,ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्या: पुत्र: कितवोऽब्राह्मण: कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति ।...स बहिर्धन्वो दूळ्ह पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् — 'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु इति ।।''**

अर्थात् — 'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में भाग लेने आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वञ्चित कर दिया। यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट-आचरण वाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया! (यज्ञ से बाहर निकाल देने पर) वह कवष-ऐलूष पिपासा से संतप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया। वहां उसने 'अपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुन: अपने मध्य बुलाकर यज्ञ में दीक्षित कर लिया।

यह सूक्त ऋक्. १०।३० वाँ है और वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम उल्लिखित है। इस ऋषि द्वारा दृष्ट अन्य १०।३१ —३४ सूक्त भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूक्तों पर लिखित ऋषि उन-उन सूक्तों के अर्थद्रष्टा हैं।

(ख) छान्दोग्योपनिषद् में जाबाल की कथा आती है, जो अज्ञात कुल के होते हुए गुण-कर्मों से ब्राह्मण बन गये। इसी प्रकार चांडाल कुल के मातङ्ग ऋषि ब्राह्मण हो गये। वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र क्षत्रियराजा के ब्राह्मण होने का वर्णन आता है। इस प्रकार गुण-कर्म से वर्णव्यवस्था और वर्णपरिवर्तन परम्परा से भी सिद्ध है।

(१२) वर्ण चार हैं—(क) मनु ने चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है। मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णनात्मक रूप में चार वर्णों का ही वर्णन है। चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं [१०।४५]।अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण नहीं। इस मान्यता की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है—१।३१, ८७-९१।३।२०।।५।५७।। ७।६८ ।। १०।४५, ६५, १३१।। १२।९७ आदि।

(ख) चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण—अन्यत्र शास्त्रग्रन्थों में भी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है। इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति आर्येतर हैं,जिन्हें निषाद, असुर, राक्षस आदि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित किया जाता है—

(अ) **''ऊर्जाद: उत यज्ञियास: पंचजना: मम होत्रं जुषध्वम् ।''**

(ऋक् १०।५३।४)

''पंचजना :—चत्वारो वर्णा: निषाद; पंचम इति औपमन्यव: ।''

(निरु. ३।२।७)

चार वर्ण — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवें निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं।

(आ) ''चत्वारो वर्णा : । ब्राह्मणो राजन्यो वैश्य : शूद्र :''
(श. ब्रा. ५ । ५ । ४ । ९)

''चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्य : ।।''
(मैत्रा. सं. ४ । ४ । ६)

कर्मणा-चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का आधार वेद —

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन आया है । इन मन्त्रों से मनु का भाव और स्पष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है । जैसा कर्मों-गुणों के आधार पर आलंकारिक वर्णन वेद में है,वैसा ही मनुस्मृति में है । मन्त्र निम्न है—

(क) ''यत्पुरुषं व्यदधु : कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ।।
(यजु. ३१ । १०)

(यत्पुरुषं.) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है **(कतिधा व्य.)** जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं **(मुखं किमस्यासीत्)** इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पादन हुआ है **(किं बाहू)** बल वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है **(किमूरू)** व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है ? इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

(ख) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य : कृत : ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य : पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।
(यजु. ३१ । ११)

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्य-भाषण आदि उत्तमगुण और श्रेष्ठकर्मों से ब्राह्मवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है **(बाहू राजन्य : कृत :)** और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है **(ऊरू तदस्य.)** खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है **(पद्भ्यां शूद्रो.)** जैसे पग सबसे नीच अंग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है ।'' (ऋ. भू. १२५-१२६)

(ग) इस आलंकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं । निम्न वचनों में ब्राह्मण को समाज या मनुष्यों का मुखरूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुआ नहीं —

(अ)"ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखम् ।" (तां. १ । ६ । १)
= ब्राह्मण मनुष्यों का मुख है ।

(आ)"अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम् " (श. ३ । ९ । १ । १४)

(ख) जन्मना वर्णव्यवस्था के विधायक स्थल और इस विषयक शंकाओं का निराकरण —

मनुस्मृति में जन्मना वर्णव्यवस्था खोजने वाले व्यक्ति प्रमुखत : निम्नस्थलों से इस विषयक आधार ग्रहण करते हैं —

(१) १ । २ में '**अन्तरप्रभवाणाम्**'और १ । १३७ (२ । १८) में '**सान्तरालानाम्**' पदों से वर्णसंकरों का वर्णन है । इस प्रकार मनु वर्णसंकरों के धर्मों का वर्णन भी करते हैं और जन्मना वर्ण तथा जातियां मानते हैं ।

(२) १ । ९८-१०० श्लोकों में जन्म के आधार पर ब्राह्मण की प्रशंसा है ।

(३) २ । ११-१४ (२ । ३६-३९) उपनयनविषयक श्लोकों में शूद्र का उल्लेख नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मनु जन्म से ही शूद्र मानते हैं । जन्म से अन्य वर्णों के नामों का उल्लेख भी मनु की जन्मना-मान्यता की प्रवृत्ति को प्रकट करता है ।

(४) दशम अध्याय में जन्म से ही माने गये वर्णसंकरों का तथा अन्य विविध जातियों का वर्णन है ।

इनका उत्तर क्रमश : दिया जाता है —

(क) इन श्लोकों में टीकाकारों ने '**अन्तरप्रभवाणाम्**' पद का — "संकीर्ण जातियों या वर्णसंस्कारों के" यह अर्थ अशुद्ध किया है । इस पद का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये । इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ हैं —

२ । १८ [इस संस्करण के अनुसार १ । १३७] में '**अन्तरप्रभवाणाम्**' के पर्यायवाची रूप में '**सान्तरालानाम्**' शब्द का प्रयोग किया है । जैसे यहाँ वर्णों के साथ '**अन्तरप्रभवाणाम्**' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ '**सान्तरालानाम्**' शब्द का प्रयोग है । उस श्लोक में '**सान्तरालानाम्**' शब्द का अर्थ 'आश्रम' है, अत : यहां भी उसके पर्यायवाची शब्द '**अन्तरप्रभवाणाम्**' शब्द का अर्थ '**आश्रमों के**' होना चाहिये । यद्यपि २।१८ [१।१३७] श्लोक में भी टीकाकारों ने '**सान्तरालानाम्**' शब्द का अर्थ 'संकीर्ण जाति' या 'वर्णसंकर'किया है, किन्तु वह मनु की मान्यता के विरुद्ध है । यतो हि, उस श्लोक में धर्म के चार मूलाधारों में से एक आधार 'सदाचार' [२ । ६, १२ या १ । १२५, १३१] का लक्षण किया है और बताया गया है कि "ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत श्रेष्ठ आचरण है, वह 'सदाचार कहलाता है" । इस श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' य 'संकीर्ण जाति' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि वर्णसंकरों का आचरण 'सदाचार' ही नही हो सकता और न ही उनके आचरण को उन श्लोकों में 'सदाचार' के रूप में माना है ।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्णसंकरों के धर्मवर्णन-प्रसंग में अनेक स्थानों पर उनके आचरण को निन्दनीय और गर्हित कहा है । उस प्रसंग में संकीर्ण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं — "**मातृदोषविगर्हितान्**" = माता के दोष से निन्दित जन्म वाले [१० । ६], "**क्रूराचारविहारवान्**" = क्रूर आचार-व्यवहार वाले [१० । ९], "**अधमो नृणाम्**" = मनुष्यों में नीच [१० । १२], "**अव्रतांस्तु यान्**" = व्रतहीन [१० । २०], "**पापात्मा मूर्जकण्टक :**" = पापी आत्मा वाले मूर्जकण्टक [१० । २१], "**ततो ऽप्यधिकदूषितान्**" = उनसे भी अधिक दूषित आचरण वाले [१०।२९], "**जनयन्ति विगर्हितान्**" = निन्दित

सन्तानों को जन्म देते हैं [१० । २९] । इसी प्रकार संकीर्ण जातियों का 'अपसद' (नीच) 'अवध्वंसज' (पतितोत्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचयिता इन्हें निन्दित आचरण वाला मानता है । इनके अतिरिक्त उस प्रसंग में वर्णसंकरों के जो पशुहिंसा आदि धर्म बतालाये हैं,वे मनु के मत में धर्म न होकर दुष्कर्म हैं, जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है । फिर उनके आचरण को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है ? और न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है । इससे यह बोध होता है कि उक्त श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' अर्थ करना संगत नहीं है, और मनु के विरुद्ध भी है । अत: वहां उसका 'आश्रम' अर्थ होना चाहिए । उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस श्लोक में 'अन्तरप्रभव' का अर्थ भी 'आश्रम' ही समीचीन है ।

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत और विशिष्ट रूप से आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णनसंकरों के धर्मों का नहीं । यह भी ध्यान देने की बात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है । आश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे — द्वितीय अध्याय में — ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, तृतीय से पञ्चम् तक गृहस्थ का, षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का वर्णन है । साथ-साथ छठे अध्याय तक ब्राह्मण के कर्त्तव्य भी उक्त हो जाते हैं । फिर क्षत्रियों के शेष कर्त्तव्यों का वर्णन ७ । १ । से ९ । ३२५ तक है । वैश्य के अतिरिक्त कर्त्तव्यो का कथन ९ । ३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १० । १-६] तक तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४-३३५ [इस संस्करण में १० । ७-८] में है । यदि 'अन्तरप्रभवाणाम्' का 'आश्रम' अर्थ न करके 'वर्णसंकर' अर्थ लिया जाये तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्भ में आश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है तो इतने विस्तृत और प्रधान रूप से आश्रमों के धर्मों का विधान क्यों किया गया है ? वर्णों और आश्रमों के धर्मों का साथ-साथ और प्रधानतापूर्वक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों और आश्रमों के विषय में प्रश्न है, वर्णसंकरों के विषय में नहीं ।

(ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं । १२ । ९७ में भी वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख है — ''**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोका: चत्वारश्चाश्रमा: पृथक्**' । इसी प्रकार ७ । ३५ में भी राजा को वर्णों और आश्रमों के धर्मों का रक्षक कहा है, वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं —

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वश: ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ।।

इस प्रवृति के अनुसार भी यहाँ वर्णों के साथ प्रयुक्त 'अन्तरप्रभव' शब्द का अर्थ 'आश्रम' ही सिद्ध होता है ।

(घ) मनुस्मृति में दशम अध्याय को छोड़कर वर्णों के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं भी वर्णसंकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है । नामकरण संस्कार [२ । २६-३५ या २ । १-१०] विवाहविधि [३ । २०] आदि प्रसंगों में जहाँ शूद्रों के लिए भी विधान किए हैं, वहां भी इनका उल्लेख नहीं है । दशम अध्याय में भी जो इनका वर्णन है वह वस्तुत: मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दशम अध्याय के श्लोकों की समीक्षा देखिए) । यतो हि, वह विषय प्रसंगविरुद्ध रूप से वर्णित है । मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए वे कहते

हैं — "**वर्णधर्मान्निबोधत**" १ । १४४ [अन्य संस्करणों में २ । २५] । इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा — "**एष धर्मविधि : कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तित :**" १० । १४२ [अन्य संस्करणों में १० । १३१] । दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन है, आपद्धर्म का नहीं । यहां बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था और न ही अभीष्टता, किन्तु फिर भी किसी ने इस वर्णन को बलात् मिलाया है ।

इसी प्रकार १० । १५ [अन्यत्र १० । ४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि आर्यों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पांचवां कोई नहीं है । इनसे भिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे आर्य भाषाएं बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषाएं [१० । ५६(१० । ४५)] । यहां वर्णसंकरों का कोई उल्लेख नहीं । इससे वर्णसंकरों का वर्णन [१० । ५-७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता । जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णसंकर' अर्थ ग्रहण करना ही अनुपयुक्त एवं विरुद्ध है । अत : यहां भी 'वर्णसंकर' अर्थ न होकर 'आश्रम' अर्थ ही मनुस्मृतिसम्मत है ।

(ङ) मनु ने संक्षिप्त भूमिका के रूप में १ । ८७-९१ श्लोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेख तथा उनका कर्मवर्णन किया है । उससे स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते । इन श्लोकों से यह भी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के धर्मों का कथन अभीष्ट है, अन्य किसी वर्णसंकर आदि का नहीं । अत : यहाँ भी 'अन्तरप्रभव' का अर्थ वर्णसंकर करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'आश्रम' अर्थ ही प्रकरणसंगत है ।

(च) प्रतीत होता है कि जब वर्णसंकरों के प्रसंग का प्रक्षेप हुआ तो उन लोगों ने तदनुसार ही 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों के अर्थों को भी परिवर्तित करके 'वर्णसंकर' अर्थ प्रचलित कर दिया । यही नहीं, अपने आशय के अनुसार ऐसे लोगों ने पाठभेद करने का भी प्रयास किया । तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों में '**अन्तर-प्रभवाणाम्**' पद के स्थान पर '**संकरप्रभवाणाम्**' पाठभेद भी मिलता है । यह पाठभेद वर्णसंकर सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों को मौलिक सिद्ध करने का ही एक प्रयास था । यह पाठभेद तो प्रचलित नहीं हो पाया किन्तु इस पाठभेद के अनुसार अर्थ की भ्रान्ति अवश्य प्रचलित हो गई ।

२. १ । ९८-१०० श्लोक, १ । ९२-१०७ तक चलने वाले श्लोकों के बीच आते हैं और पूर्वापर दृष्टि से उनसे सम्बद्ध भी हैं । ये सभी श्लोक पूर्वापर प्रसंग से असम्बद्ध हैं, और सांकेतिक सृष्ट्युत्पत्ति विषय से बाह्य हैं । इन श्लोकों में मनुस्मृति को शास्त्र कहा गया है । शैली के आधार पर यह प्रयोग इन श्लोकों को परवर्ती सिद्ध करता है ।

३. (क) **उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं** — ११-१३ श्लोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया । यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते है तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका समाधान इस प्रकार है —

(अ) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर भी निहित है । उपनयन में शूद्र का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्भ की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से शूद्र नहीं मानते । यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं । जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे वह इन तीनों में उसी वर्ण में प्रवेश ले सकता है । पुन : शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त आचार्य अन्तिम रूप से उनके वर्णों का निश्चय करता है [२ । १२१ (१४६), १२३ (१४८)] ।

(आ) जो व्यक्ति इन तीनों वर्णों के गुणों को धारण नहीं कर सकता और वेदारम्भ तथा उपनयन रूप ब्रह्मजन्म को ग्रहण नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है । उपनयन से पूर्व अर्थात द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र ही होते हैं — **'जन्मना जायते शूद्र :, संस्करात् द्विज उच्यते'** । इस प्रकार कोई भी बालक किसी वर्ण में दीक्षित हो सकता है । मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है —

चतुर्थ : एकजातिस्तु शूद्र : ।। १० ।४ ।।

इस प्रकार उपनयन आदि से पूर्व शूद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती । द्विज की 'पतित' या 'शूद्र' होने की स्थिति अध्ययन के बाद आती है । द्विजों के अध्ययन और कार्यों में असमर्थ व्यक्ति ही शूद्र है [२ । १४-१५ (३९-४०)]

(इ) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि मनु ने उपनयन के प्रसंग में शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया । अगर वे जन्म से ही शूद्र का अस्तित्व और वर्णनिर्धारण मानते तो इस प्रसंग में पृथक् से उसके उपनयन का निषेध करते।

(ख) 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का मनुसम्मत अर्थ —

(अ) ११-१३ श्लोकों में 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का प्रचलित टीकाओं में ब्राह्मण के बालक का, 'राज्ञ :' या 'क्षत्रियस्य'= क्षत्रिय के बालक का, 'वैश्यस्य','विश :'= वैश्य के बालक का, यह अर्थ मिलता है । यह अर्थ श्लोक के पदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी । श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' आदि अर्थ किये जायें । इसी प्रकार मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १० । ६५ ।। १ । ८७-९१ । १ । १०७ श्लोक और उन पर समीक्षा] । इन अर्थों से ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे जन्म के आधार पर वर्ण-प्रवेश है और वह भी ब्राह्मण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षत्रिय का क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य का वैश्य मे । यह उक्त मान्यता से मेल नहीं खाता ।

(आ) यहां ये पद वस्तुत : जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं । जिनका अर्थ है 'ब्राह्मण — वर्ण का दीक्षाकाल' आदि । मनुसम्मत मान्यता के आधार पर अध्याहार से इनका अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को धारण करने के इच्छुक का' आदि अर्थ किये गये हैं । इस अर्थ का संकेत मनु के **'ब्रह्मवर्चसकामस्य'** [२ । १२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है । इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है,जो वंशपरम्परानुसार अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे वह भी इस व्यवस्थानुसार दीक्षा करा सकता है,और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में दीक्षित कराना चाहे तो, वह भी उस निर्धारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है ।

(इ) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता ? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के आधार पर ये प्रयोग हैं । प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुसार सभी संस्कार करते हैं । पुन : उसकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का अन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२ । १२१ (१४६), १२३ (१४८)] । देखिये मनु ने इसी व्यवहार के आधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए **'ब्रह्मवर्चसकामस्य' 'बलार्थिन :, 'वैश्यस्य इह अर्थिन :** [२ । १२] पदों का प्रयोग किया है, जबकि इतने अल्पवय बालकों को ब्रह्मवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिणाम का ज्ञान नहीं होता । इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत भाष्य का अर्थ भी मनु के वर्णनानुरूप ही है ।

४. उपर्युक्त विवेचन (संख्या १) से यह स्पष्ट हो गया कि मनुस्मृति में वर्णसंकरों का वर्णन

करना इसका प्रतिपाद्य नहीं है, न यह मान्यता मनु की आधारभूत मान्यताओं से मेल खाती है । अन्य शैली आदि विभिन्न कारणों से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग परवर्ती एवं प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उनके वर्णन की शैली विधि-विधानात्मक न होकर ऐतिहासिक है । इस प्रकार वह वर्णन मनुविहित नहीं कहला सकता ।

२. मांसभक्षण एवं पशुयज्ञ पाप है —

मनु मांस भक्षण एवं पशुयज्ञ को निन्द्य एवं पाप मानते हैं।उक्त दोनों बातें उनके मुख्य उद्देश्य, प्रतिपाद्य एवं मनुस्मृति की आधारभूत भावना के ही विरुद्ध हैं ।

(क) उक्त मान्यता के विधायक एवं संकेतक स्थल —

मांसभक्षण एवं पशुयज्ञ पाप है — २ । १५२ (१७७) ; ३ । ६८-६९ ; ४ । २, ६८, १७०, २४६ ; ५।५, ४५-४९, ५१ ।।

इन पर विचार करने के बाद निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं —

१. 'अहिंसापालन' अथवा 'हिंसानिषेध' की मान्यता मनुस्मृति की उन मान्यताओं में से एक है, जिन पर मनुस्मृतिरूप प्रासाद टिका हुआ है । यदि इन्हें मनुविहित मान लिया जाये तो मनुस्मृति की आधारभूत व्यवस्था ही खंडित हो जायेगी । मनु द्वारा विभिन्न स्थलों पर किये गये हिंसानिषेध और अहिंसापालन के आदेशों के परिप्रेक्ष्य में यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि

(अ) सर्वप्रकार की हिंसा या मांसभक्षण मनुविरुद्ध है, (आ) पशुयज्ञ मनुविरुद्ध है, और (इ) यज्ञ के उद्देश्य से पशुहिंसा करना भी मनुविरुद्ध है । यथा — (क) मनु ने गृहस्थियों और वानप्रस्थियों के लिए अनिवार्य रूप से पांच महायज्ञों का विधान किया है । इन यज्ञों के विधान का मुख्य उद्देश्य हिंसा की निवृत्ति ही है —

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युस्कर: ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।।
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि: ।
पञ्च क्लृप्ता : महायज्ञा : प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ।। (३ । ६८, ६९ ।।

जो व्यक्ति दैनिक जीवनचर्या में अज्ञानवश होने वाली छोटी-छोटी हिंसाओं की निवृत्ति के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान करता है, जिसमें परप्राणीपीड़ा की भावना भी नहीं है,और जो आजीविका भी ऐसी अपनाने का विधान करता है जिसमें किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचे [४ । ४][४], जो पशुओं की सवारी करते हुए उनको चाबुक भी इस प्रकार मारने के लिए कहता है जिससे वे संतप्त न हों [४ । ६८][५], वह व्यक्ति पशुओं की हिंसा और मांसभक्षण का विधान कदापि नहीं कर सकता । यह सर्वथा असंभव है । आश्चर्य की बात तो यह है कि छोटी-छोटी हिंसाओं के प्रायश्चित के लिए अर्थात् उनके पाप की शुद्धि के लिए ही मनु पांच यज्ञों का विधान कर रहे हैं और फिर लोग यज्ञों में ही हिंसा करने को मनुसम्मत सिद्ध करना चाहते हैं ! यदि ऐसा है तो यज्ञों से पाप-शुद्धि ही क्या हुई ?

२. मनु ने ५ । ४९ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है — **''निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्''** = सब प्रकार के मांस-भोजन से दूर रहे । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों पर भी मांसभक्षण का स्पष्ट निषेध है और हिंसक की निन्दा तथा अहिंसक की प्रशंसा एवं अहिंसा की प्रेरणा है —

---

४. ''अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुन :— विप्रो जीवेत ।''
५. विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यम् . . . प्रतोदेनातुदन्भृशम् ।''

(क) ''**वर्जयेत् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।**'' (२ । १५२ [१७७])

(ख) ''**वर्जयेत् मधुमांसम्**'' (६ । १४)

(ग) ''**हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।**'' (४ । १७०)

(घ) ''**यो अहिंसकानि भूतानि हिनस्ति आत्मसुखेच्छया ।**
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते'' । (५ । ४५ ।।)

(ङ.) ''**अहिंस्त्रः दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्ग तथाव्रत :** । (४ । २४६)

(च) ''**विचरेत् नियत : नित्यं सर्वभूतानि-अपीडयन् ।।**'' (६ । ५२)

(छ) ''**अहिंसया च भूतानां अमृतत्वाय कल्पते ।**'' (६ । ६०)

(ज) ''**यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।**
स सर्वस्य हितप्रेप्सु : सुखमत्यन्तमश्नुते ।। (५ । ४६)

३. इतना ही नहीं, मांसप्राप्ति में किसी भी प्रकार का सहयोग देने वाले व्यक्ति को मनु घातक = पापी कहकर संबोधित करते हैं । निम्न श्लोक में आठ प्रकार के व्यक्तियों को पापियों में परिगणित किया गया है —

(क) **अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।**
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका : ।। (५ । ५१)

(अनुमन्ता) मारने की आज्ञा देने वाला (विशसिता) मांस काटने वाला (निहन्ता) पशु को मारने वाला (क्रय-विक्रयी) पशुओं को मारने के लिए मोल लेने-बेचने वाला (संस्कर्त्ता) पकाने वाला (उपहर्त्ता) परोसने वाला (च) और (खादक :) खाने वाला,(इति घातका :) ये सब हत्यारे और पापी हैं ।। ५१ ।।

४. भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग [५।५, ८, ९, १०, २४, २५] श्लोकों से ज्ञात होता है कि मनु तामसिक,राजसिक और '**अमेध्यप्रभव**'= अशुद्धस्थानोत्पन्न सभी पदार्थों को अभक्ष्य मानते हैं । बासी भोजन,लहसुन, प्याज आदि तामसिक, राजसिक भोजन के अन्तर्गत आते हैं तथा गन्दे स्थान में उत्पन्न पदार्थ और रक्त चर्बी आदि से युक्त मांस आदि अमेध्यप्रभव है । कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं —

(क) **लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।**
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ।। (५।५ ।।)

(ख) **नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।**
न च प्राणिवध : स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।। (५ । ४८ ।।)

(ग) **समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।**
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ।। (५ । ४९ ।।)

५. मनु सात्त्विक गुणों, पदार्थों को ही ग्राह्य और प्रशंसनीय मानते हैं और राजस-तामस को निन्द्य ।[६] । सात्त्विक गुणों से ही मोक्ष प्राप्ति संभव है ।[७] यही मनु का धर्मशास्त्र के प्रवचन का उद्देश्य है — ''**ब्राह्मीयं क्रियते तनु :**'' [२ । ३ (२८)] तथा तामसिक-राजसिक पदार्थों का भक्षण करना मनु के मुख्य प्रतिपाद्य और उद्देश्य के ही विरुद्ध है ।

६. तृतीय अध्याय के यज्ञ-प्रसंगों में मनु ने कहीं भी मांसयज्ञ का विधान नहीं किया है । और वानप्रस्थ के प्रसंग में तो स्पष्टत : कह दिया है कि अन्नों से ही यज्ञ करें और वह भी 'मेध्य' = शुभ अन्न से —

६. २ । ५ ।। ५ । २४ ।। १२ । ७ , २८, २९, ३२, ३३, ३५, ३६ ।।
७. १२ । ७, ३१, ३७ ८३ ।।

मुन्यन्नैः विविधैः मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेत् विधिपूर्वकम् ।। (६ । ५ ।।)

मनु की मान्यता को समझने के लिए इन प्रमाणों से अधिक और क्या प्रमाण मिल सकते हैं । इसके बाद भी जो लोग मांसभक्षण और पशुयज्ञ को मनुसम्मत मानते हैं, वे मनु और मनुस्मृति के साथ अन्याय करते हैं ।

७. **मांसभक्षण और पशुयज्ञ के विरोध में वेद के प्रमाण** — इस प्रसंग में मांस भक्षण की सिद्धि के लिए प्रक्षेपकर्त्ताओं ने यज्ञ की आड़ ली है । यज्ञों का विधान वेदों में है । अत :यहाँ वेदों के ही यज्ञसम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे पता चलेगा कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए स्वार्थी लोगों ने मिथ्या ही यज्ञ और वेद को बदनाम किया है —

(क) '**अध्वर**' शब्द ऋग्वेद में-१ । २३ । १७ ।। १ । १३५ । ७ ।। १ । ४४ । १३ ।। ३ । २४ । २ ।। ७ । ७२ ।४ ।। ७ । ६ । ८ ।।, यजुर्वेद में- ३७ । १९ ।। ३ । ११ ।। २१ । ४७ आदि अनेक स्थानों पर यज्ञार्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस शब्द की निरुक्ति करते हुए ऋषि यास्क लिखते हैं —''**अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः**''[नि. ३ । १७ ।। १ । ७] अर्थात् 'अध्वर = यज्ञ का नाम है । 'ध्वर' हिंसार्थक धातु से बना है । जिसमें हिंसा न हो उसे अध्वर = यज्ञ कहते हैं । इस संज्ञा से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होती । यज्ञ के नाम पर पशुहिंसा करना स्वार्थी लोगों की उदरपूर्ति-हेतु कल्पना है ।

(ख) यजुर्वेद को कर्मकाण्ड का वेद माना जाता है । उसके प्रथम मन्त्र में ही पशुओं की अहिंसा की कामना है — ''**यजमानस्य पशून् पाहि**'' [यजु. १।१] अर्थात् 'यज्ञ करने वाले के पशुओं की रक्षा कीजिए ।'

(ग) **मांसाहारियों को यज्ञ सम्पादन का अधिकार नहीं** — यज्ञों में मांसविधान की चर्चा तो बहुत दूर की बात है । वेदों में,यज्ञ-विधान प्रसंगों में केवल यज्ञीय प्रवृत्ति के अन्नाहारी (मांसाहारी नहीं) व्यक्तियों को ही यज्ञ करने का विधान है । निम्न वेदमंत्र प्रमाणरूप में उल्लेखनीय है ।

''**ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम् ।**''
(ऋ. १०।५३।४)

अर्थात् केवल अन्नाहारी (मांसाहारी नहीं), और यज्ञीय प्रवृत्ति वाले पांचों प्रकार के (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) व्यक्ति यज्ञ-सम्पादन करें ।

निरुक्तकार ने 'ऊर्ज' की व्युत्पत्ति और अर्थ दिये हैं — '**ऊर्गिति अन्ननाम, ऊर्जयति इति सतः ।**'' (निरु. ३।२।७) अर्थात् 'ऊर्ज्' अन्न को कहते हैं, क्योंकि यह शरीर को प्राणशक्ति प्रदान करता है ।

८. इन सभी स्थलों की मनुस्मृति के विषय, प्रसंग के साथ अनुकूलता है, और शैली के अनुरूप भी है ।

(ख) मांससमर्थक स्थल और उनका विवेचन —

(अ) ३।१२३, २६७-२७२ में विविध मांसों से मृतकश्राद्ध में तृप्ति ।
(आ) ४।२६-२८ में नये अन्न व मांसभक्षण के समय उनसे यज्ञ करना ।
(इ) ५।६, ७, ११-२३, २६-४४, ५०, ५२-५६ में विभिन्न मांसों का विधान और उनको

यज्ञपूर्वक खाने की विधि तथा खण्डन-मण्डन।

१. इन श्लोकों में वर्णित मान्यताओं का उक्त मान्यताओं से विरोध है, अत : ये मान्य नहीं।

२. 'अ' भाग के श्लोक विषयविरुद्ध हैं। क्योंकि वहां पञ्चयज्ञों का विषय है, मृतकश्राद्ध वर्णन का नहीं। (विस्तृत विवेचन संख्या ३ पर देखिये, इसी मान्यता की समीक्षा में)

३. 'अ' भाग के श्लोक मृतकश्राद्ध सम्बन्धी प्रसंग के अंश हैं, और यह प्रसंगविरुद्ध है। 'अ' भाग के ५।११-२३ श्लोकों ने ५।१०, १४ के प्रसंग को भंग किया है, और ५।२६-४४ श्लोकों में नये सिरे से मांसभक्षण की विधि-अविधि का प्रसंग प्रारम्भ किया है। यह भी अप्रासंगिक हैं।

४. तीनों स्थलों की शैली निराधार, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अयुक्तियुक्त है।

५. इन मांस-समर्थक प्रसंगों में परस्पर विरुद्ध विधान भी हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि ये प्रसंग अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में रचकर मिलाये गये हैं।

३. मृतक व्यक्तियों का श्राद्ध मनुसम्मत नहीं —

(क) जीवितश्राद्ध का वर्णन करने वाले स्थल —

३।८०-८२; ४।३०-३१ ।।

मनु ने पञ्चयज्ञों के प्रसंग में श्राद्ध का क्रमबद्ध रूप से वर्णन किया है। वह श्राद्ध जीवितों पर ही घटता है, मृतकों पर नहीं। मनु कहते हैं — 'श्राद्धों से पितरों का पूजन करें। यह श्राद्ध प्रतिदिन करें। माता-पिता आदि वयोवृद्धों को प्रसन्न रखते हुए उन्हें अन्न, जल, फल-मूल आदि देकर यह श्राद्धकार्य करें। यही पितृयज्ञ कहाता है।' इन श्लोकों में श्राद्ध के लिए ऋषि, पितर, देव, मनुष्य आदि सभी जीवितों की ही गणना है। ४।३०-३१ में ऐसे ही लोगों को हव्य = भोज्य पदार्थों का दान, कव्य = उपयोगी धन, वस्त्र आदि का दान देने का विधान है। प्रमुख श्लोक द्रष्टव्य हैं। —

(क) ऋषय: पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्य: कार्यं विजानता ।। (३।८० ।।)

(ख) स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ।। (३।८१ ।।)

(ग) कुर्यादहरह: श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्य: प्रीतिमावहन् ।। (३।८२ ।।)

इस विषय में विस्तृत विवेचन किया जाता है — पितृयज्ञ के दो भेद हैं — एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध। **'येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तर्पयन्ति = सुखयन्ति तत्तर्पणम्'**। अर्थात् जिस कर्म से विद्वान्‌रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, उसे तर्पण कहते हैं। **'यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तत् 'श्राद्धम्''**। अर्थात जो इन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, वह श्राद्ध कहाता है।

श्राद्ध का अर्थ है — श्रद्धा से किया गया कार्य, जैसे श्रद्धापूर्वक माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करना, भोजन देना आदि। यही पितरों का तर्पण या पितृयज्ञ है। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं। क्योंकि, उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। और जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिए मृतकों को सुख पहुंचाना सर्वथा असम्भव है . . . . .

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं — देव, ऋषि और पितर। 'पितर' से अभिप्राय मृतकों से नहीं अपितु जीवितों से है। **''पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदाने ; ते पितर :''** = जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं वे 'पितर' कहलाते है। इसमें ब्राह्मणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(अ) **''देवा वा एते पितर :''** (गो. उ. १।२४)

(आ) **''स्विष्टकृतो वै पितर :''** (गो. उ. १।२५)

अर्थात् सुख सुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं।

ये श्लोक अपने-अपने प्रसंग में सहज ढंग से उक्त हैं, और विषय तथा शैली के अनुकूल हैं।

(ख) मृतकश्राद्ध के विधायक स्थल —

(अ) ३।१२२-२८४ तक मृतकश्राद्ध का एक स्वतन्त्र प्रसंग है।

इस प्रसंग का अपने पूर्वापरप्रसंग से न तो तालमेल है, न यह विषय संकेत के अनुसार है, और न मनु की मूल भावना के अनुकूल है। ऐसा निम्न कारणों से ज्ञात होता है —

१. **अन्तर्विरोध** — इस प्रसंग में वर्णित विधानों के मनुस्मृति के अन्य विधानों से अनेक अन्तर्विरोध हैं —(१) १२२ से २८४ श्लोकों में मृतकश्राद्ध का विधान है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है। मनु ने पितृयज्ञ के रूप में जीवितों का श्राद्ध और वह भी दैनिक रूप में विहित किया है [३।८०-८२] [विस्तृत रूप में द्रष्टव्य है ३।८५ पर अनुशीलन समीक्षा]। मनु के अनुसार 'पितृ' या 'पितर' शब्द का अर्थ भी 'बुजुर्ग' 'पालक' है। देखिए ९।२८ ; २।१२६ ; [२।१५१] में 'पितृ' शब्द का प्रयोग 'बुजुर्गों' के लिये किया है। (२) दैनिक पितृयज्ञ या श्राद्ध घर पर विहित है, जबकि इन श्लोकों में वर्णित श्राद्ध को वनों, नदीतीरों, एकान्त स्थानों [२०७] पर करने का कथन है। यह भिन्नता मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है। (३) मनु ने पितृयज्ञ को ही श्राद्ध माना है और उससे भिन्न कोई क्रिया पितृयज्ञ में नहीं मानी [८०-८२] जब कि इन श्लोकों में **''पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य''** कहकर **''पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यात् मासानुमासिकम्''** [१२२] के विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन करने वाला इस विधान को पितृयज्ञ से भिन्न क्रिया मानता है। यह अतिरिक्त पृथक् श्राद्ध का विधान मनु की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। (४) पितृयज्ञ के प्रसंग में केवल अन्न, जल, फल-मूल से ही श्राद्ध करना कहा है [८२], जब कि इस प्रसंग में मांस से श्राद्ध करना अधिक फलदायक माना है [२६६-२७२]। (५) इस प्रसंग में अनेक श्लोकों में मांसभक्षण का विधान है [१२३, २२७, २५७, २६६-२७२]। यह मान्यता मनुस्मृति की मौलिक मान्यता के ही विरुद्ध है। मनु ने मांसभक्षण को पाप और मांसभक्षक को पापी कहा है [५।४३-५१] और हिंसा करने वाले के लिए प्रायश्चित्तों का विधान किया है [३।६८-६९]। [विस्तृत समीक्षा ४।२६-२८ श्लोकों पर देखिये]। (६) मनु कर्त्ता को ही स्वयं फल का भोक्ता मानते हैं [४।२४०]।

इस प्रसंग में श्राद्धकर्त्ता द्वारा पितरों का निस्तार [२२०-२२२], एक के श्राद्ध से सात पीढ़ी के वंशजों को पुण्यफल-प्राप्ति [१४६], आदि कथन उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं। (७) १३६, १३७, १५२-१५६, १६४-१६६, १८२ आदि श्लोकों में वर्णव्यवस्था को जन्मना मानने के

संकेत हैं, जबकि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। [१।८८; २।१४३ (१६८), १२२-१२३ (१४७-१४८)]। उक्त श्लोकों में वर्णित कर्म ब्राह्मणों के नहीं हो सकते। यदि उनमें ये कर्म हैं तो वे मनु की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण नहीं कहला सकते। (८) २।८१ [१०६] में वेदाध्ययन को सर्वदा पुण्यदायक माना है, जबकि इस प्रसंग में श्राद्ध में वेदपाठ निषिद्ध है [१८८]। [९] प्रथम अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा द्वारा पञ्चभूतों के माध्यम से मानी है [१।६, १४-२०], जबकि इस प्रसंग में मरीचि आदि ऋषियों से चराचर जगत् की उत्पत्ति कही है, जो प्रकृतिविरुद्ध बात है [२०१]। (१०) १।९१ में शूद्रों का कर्म द्विजों की सेवा करना कहा है, जबकि इस प्रसंग में शूद्रों का श्राद्ध के पदार्थों से स्पर्श करना भी निषिद्ध हैं [२४१]। १९७ में शूद्रों के पितर सुकाली माने जाते हैं। जब शूद्रों के लिए श्राद्ध में स्पर्श तक का निषेध है तो शूद्रों के यहां कौन से ब्राह्मण श्राद्ध खायेंगे? यदि नहीं खाते हैं तो फिर शूद्रों के लिए श्राद्ध का विधान क्यों? (११) इस सम्पूर्ण प्रसंग में पितरों के लिए हव्य-कव्य आदि देने का विधान है किन्तु मनु के मत में जीवित व्यक्तियों को दिये जाने वाले भोज्य एवं हितार्थ देय वस्त्र, धन आदि दान 'हव्य-कव्य' कहलाते हैं। ४।३०-३१ में देखिए मनु ने स्पष्टत: जीवित, धार्मिक विद्वानों को हव्य-कव्य देने का कथन किया है। यह सम्पूर्ण प्रसंग उक्त मान्यता के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

२. **प्रसंगविरोध** —(१) ११७ वें श्लोक में गृहस्थी को '**शेषभुक्**' होने के लिए कहा है और ११८ वें श्लोक में '**यज्ञशेषभुक्**' होने के लिए कहा है। २८५ वें श्लोक में इन्हीं बातों का विकल्प रूप में कथन है। यह कहना चाहिए कि २८५ वां श्लोक इनका 'अर्थवाद' रूप है। बीच के इन श्लोकों ने उस पूर्वापर प्रसंग को भंग करके एकवाक्यात्मक वर्णन को तोड़ दिया है।

(२) ११७-११८ और २८५ श्लोक में अतिथि यज्ञ से सम्बन्धित प्रसंग है, जिसमें गृहस्थी को कैसा भोजन करना चाहिए, यह स्पष्टीकरण है। इसके बीच में संबन्धियों की पूजा, राजा-स्नातक की पूजा [११९, १२०], बलिवैश्वदेव का विधान [१२१], पितृश्राद्ध का विधान [१२२-२८४], पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध है।

(३) ३।१२२ वें श्लोक में ''**पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य**'' कहकर नये सिरे से पितृश्राद्ध का प्रसंग शुरू किया गया है। यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो प्रसंगक्रम की दृष्टि से पितृयज्ञ के प्रसंग [३।८१, ८२] के साथ होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न होकर खण्डित क्रम में इसका वर्णन है। यह क्रम की असंगति इसे मौलिक सिद्ध नहीं करती। इस प्रकार इन प्रसंगविरोधों के आधार पर ये सभी ११९ से २८४ श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

३. **विषयविरोध** — ६७ वें श्लोक में ''**वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत . . . पञ्चयज्ञविधानं च**'' कहकर दैनिक पञ्चयज्ञों के वर्णन का संकेत किया है और समाप्तिसूचक ''**एतद् वः अभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्**'' श्लोक से भी यही सिद्ध है कि ६७ से २८६ श्लोकों का विषय केवल दैनिक पञ्चयज्ञों का विधान करना है। १२२ से २८४ श्लोकों में दैनिक पञ्चयज्ञों से भिन्न मासिक, त्रैमासिक आदि श्राद्धों का वर्णन है। यह वर्णन मनु के विषय-संकेत से बाह्य होने से विषयविरुद्ध है, अत: प्रक्षिप्त है।

इस प्रकार मृतकश्राद्ध की मान्यता मनुविहित न होकर अन्य द्वारा प्रक्षिप्त है। मनु द्वारा वर्णित श्राद्ध से अभिप्राय केवल जीवित वयोवृद्धों की सेवा-सुश्रूषा से है।

४. नियोग प्रथा मनुविहित एवं वैदिक है —

(क) इस प्रथा के विधायक स्थल —

मनु ने ९।५६-५९, ६२, ६३ श्लोकों में बहुत स्पष्ट शब्दों में नियोग का विधान किया है। वे कहते हैं कि सन्तान का अभाव होने पर (पति के मरने पर अथवा जीते हुए भी सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर) स्त्री को अथवा विधवा को देवर अर्थात् पति के भाई से अथवा उसके वंशस्थ पुरुष से सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए। प्रमुख श्लोक है —

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यग्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ।। (९।५९ ।।)

(१) नियोग का अर्थ है — 'सन्तान प्राप्ति के लिए किसी स्त्री अथवा विधवा को किसी अन्य पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की स्वीकृति देना।' नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता है, उसी प्रकार नियोग भी होता है। इन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि यह शारीरिक सम्बन्ध केवल सन्तान प्राप्ति के लिए ही है, विलासिता के लिए नहीं। सन्तान प्राप्ति के पश्चात् यदि वे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो दण्डनीय होते हैं [९।६२-६३]।

यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसमें वेदों, इतिहास और परम्पराओं के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं —

(२) वेदों में नियोग का विधान और इतिहास के प्रमाण —

(क) उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ।।
(ऋ. ।मं. १०। सू. १८। मं. ८ ।।)

अर्थ — "(नारि) विधवे तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो, और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषो:) तुम विधवा के पुन: पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्)जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्यु:) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरी होगी। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम्बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।"
(स. प्र. चतुर्थ समु.)

(ख) **(प्रश्न)** नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी?
(उत्तर) जीते भी होता है —
अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ।। ऋ. मं. १०। सू. १० ।।

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर

सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए।

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया और जैसा व्यास जी ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मरजाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण है।" (स. प्र. चतुर्थ समु.)

(३) देवर शब्द का अर्थ और प्राचीन परम्परा का संकेत —

मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित — 'पति का छोटा भाई' अर्थ न होकर विस्तृत अर्थ है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है —

"देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ।।" (३।१५)

अर्थात् — "देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई या बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। उससे नियोग करे,उसी का नाम देवर है।" (म. दयानन्द, स. प्र. ११६)

आजकल यह केवल पति के छोटे भाई के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण कदाचित् यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पति के छोटे भाई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह नियोगविधि का ही एक परिवर्तित रूप है। इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रथा के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

(४) यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि इन दोनों मान्यताओं में 'नियोग-व्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता है। इसमें निम्न पोषक प्रमाण हैं — (क) नियोग-विधान की मान्यता पूर्वविहित और आधारभूत है। (ख) विषयसंकेतक श्लोकों में इस प्रसंग को प्रारम्भ और समाप्त करने का संकेत है [९।५६ और ९।१०३]। ये श्लोक अपने पूर्वापर प्रसंगों से श्रृंखलावत् जुड़े हैं, जो सिद्ध करते हैं कि यह मान्यता मौलिक है। (ग) ९।१४५-१४६ में नियोग से उत्पन्न पुत्र को दायभाग का पूर्ण अधिकार विहित है। यह भी इस मान्यता को मनुसम्मत सिद्ध करता है, और (घ) नियोग-विधि का त्याग करके उत्पादित पुत्र को धनाधिकार से ९।१४७ में वंचित किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनु नियोग को ही स्वीकार्य मानते हैं, नियोगत्याग को नहीं।

(ख) इस परम्परा के खण्डनात्मक स्थल —

ज्यों ही नियोग प्रथा का विधान पूर्ण होता है, उसके पश्चात् इसका खण्डन करने वाले श्लोक हैं। ९।६४-६८ श्लोकों में इस प्रथा का खण्डन करते हुए कहा गया है कि 'नियोग नहीं कराना चाहिये, यह धर्महनन करना है। राजा वेन के समय यह पशुधर्म प्रचलित हुआ है', आदि-आदि।

१. स्पष्ट है कि विधान के पश्चात् किया गया यह खण्डन परवर्ती है। विधान मौलिक और खण्डन उसकी प्रतिक्रिया में होता है, अतः यह नियोगविरोधी वर्णन मनुकृत नहीं है।

२. पिछले प्रमाणों से यह भी सिद्ध हो गया है कि यह प्रथा वेदोक्त है, अतः अतिप्राचीन भी है। इन श्लोकों में इसे वेन राजा के समय की कहना गलत है। आचार्य कौटिल्य ने भी इसका विधान अपने अर्थशास्त्र में किया है। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य कौटिल्य तक नियोग-व्यवस्था प्रचलित एवं मान्यता प्राप्त रही है। उन्होंने प्र. ६०।अ. ४ में कारण प्रदर्शनपूर्वक विभिन्न नियोगों का विधान किया है।

इनके अतिरिक्त ये खण्डनात्मक श्लोक निम्न कारणों से मौलिक सिद्ध नहीं होते

१. **विषयविरोध** — विषय-संकेतक श्लोकों [९।५६, १०३] के निर्देशानुसार यह विषय स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्मों और आपत्काल में सन्तानप्राप्ति का है। नियोग की मान्यता उस विषय से सम्बद्ध है, अत: मौलिक है। खण्डन की मान्यता का संकेतित विषय से कोई सम्बन्ध नहीं, अत: प्रक्षिप्त है।

२. **शैलीगत आधार** — ६६-६७ श्लोकों में राजा वेन के समय नियोग के विस्तार का कथन है। राजा वेन मनु से परवर्ती है, अत: ये श्लोक भी किसी व्यक्ति द्वारा रचकर मिलाये गये हैं। राजा वेन अंग देश का राजा था। इसके पिता का नाम अनंग था। यह मनु से बहुत पीढ़ियों पश्चात् हुआ [महा. शान्ति. ५९।९६-९९]।

विस्तार से समझाने के लिए उपर्युक्त मान्यताओं का पक्ष-विपक्ष की विवेचना पूर्वक विश्लेषण किया गया। इसी प्रकार अन्य मान्यताओं के विषय में समझना चाहिये। यहां कुछ अन्य मान्यताएं संक्षेप से प्रस्तुत की जा रही हैं, किन्तु विस्तारभय से उनका समग्र विश्लेषण नहीं किया जा रहा है। वह मनुस्मृति भाष्य में यथास्थान देखा जा सकता है।

५. स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की धारणा —

(क) बहुत से आलोचक मनु पर यह आक्षेप लगाते हैं कि मनु का स्त्रियों के प्रति बड़ा ही संकीर्ण, पक्षपातपूर्ण और निम्न दृष्टिकोण है। मनुस्मृति में कुछ ऐसे प्रक्षिप्त स्थल हैं जिनके कारण लोगों की यह धारणा बनी है, यथा — २।४१-४२ (६६-६७); ५।१४७, १४८, १५३-१६२, १६४, १६६; ९।२, ३, १४-२४, आदि।

(१) किन्तु प्रक्षिप्तों के अतिरिक्त मनुस्मृति के प्रसंग, विषय, शैली के अनुकूल ऐसे बहुत सारे श्लोक हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनु ने स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान, श्रद्धा और उच्चता प्रदान की है। वे स्त्रियों को घर की स्वामिनी, गृहलक्ष्मी, देवी, गृहशोभा के विशेषणों से संबोधित करते हैं; और उन्हें घर के सुख का आधार मानते हैं। उनका सम्मान करने और उन्हें प्रसन्न रखने की प्रेरणा देते हैं। यहां मनुस्मृति में प्राप्त श्लोकों के आधार पर मनु की उन धारणाओं को स्पष्ट किया जाता है। निम्न श्लोकों में मनु द्वारा वर्णित स्त्रियों का उज्ज्वल, सम्माननीय और उच्चस्तरीय रूप द्रष्टव्य है —

(क) पिता, भाई, पति आदि द्वारा स्त्रियों का सत्कार करना चाहिए —

(क) पितृभि: भ्रातृभिश्चैता ..... पूज्या भूषयितव्याश्च। (३।५५)

(ख) नारियों के सत्कार से दिव्यलाभों व दिव्यगुणों की प्राप्ति —

(ग) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।

(ग) वस्त्रों, आभूषणों से नारियों को सदा सत्कृत रखें —

तस्मादेता: सदा पूज्या: भूषणाच्छादनाशनै:। (३।५९)

(घ) नारी की प्रसन्नता में कुल का कल्याण निहित है —

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ (३।६०)

(ङ.) स्त्रियों के शोकग्रस्त रहने से परिवार का विनाश —

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।।
५७ ।। (३७) (३।५७)

(च) स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी और शोभा हैं —

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।। (९।२५)

(छ) स्त्रियाँ घर के सुख का आधार हैं —

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ।। (९।२८)

(ज) स्त्रियाँ घर की स्वामिनी हैं —

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्य वेक्षणे ।। (९।११)

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ।। (५।१५०)

(२) मनु स्त्री और पुरुष में न तो कोई पक्षपातपूर्ण अन्तर करते हैं,न स्त्री को पुरुष की दासी या अधीनता में बंधी रहने वाली मानते हैं । वे दोनों को ही एक-दूसरे की भावनाओं का समान रूप से आदर करने वाली बातें कहते हैं; अपितु स्त्रियों को अधिक आदरपूर्वक रखने की बातें कहते हैं । नीचे कुछ श्लोक प्रमाणरूप में दिये जा रहे हैं, जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है कि (अ) मनु की स्त्रियों के प्रति पक्षपातपूर्ण, दमनात्मक, अस्वतन्त्रतापूर्वक रखने की भावना नहीं है, अपितु समानता की भावना है ।

स्त्रियों पर बन्धन डालकर रखने की प्रवृत्ति की व्यर्थता का कथन और स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने विवेक से ही अपने आचरण को बनाने का समर्थन —

(क) स्त्री को कोई भी दमनपूर्वक नहीं रख सकता —

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । (९।१०)

(ख) स्त्री स्वयं अपनी रक्षा करने से सुरक्षित हो सकती है —

अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ।। (९।१२)

(३) बिना किसी पक्षपात के, स्त्री-पुरुष दोनों को समानस्तर का मानते हुए मनु ने स्त्री-पुरुषों को ऐसे सुझाव दिये हैं, जिनसे स्त्री की पुरुष के पूर्ण अधीन रहने की मान्यता स्वतः खण्डित हो जाती है —

(क) स्त्री-पुरुष मिलकर रहें —

अन्योन्यस्य अव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष: धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ।। (९।१०१)

(ख) स्त्री-पुरुष कभी न बिछुड़ें —

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम् ।। (९।१०२)

(ग) स्त्री-पुरुष समान हैं, अत : सभी कार्य मिलकर करें

प्रजनार्थं स्त्रिय : सृष्टा : सन्तानार्थं च मानवा : ।
तस्मात्साधारणो धर्म : श्रुतौ पत्न्या सहोदित : ।।
(९।९६)

इन मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि १४७-१४८ श्लोकों में जो दमनात्मक आग्रह से प्रेरित होकर आज्ञा दी है । यह मनु की मान्यता नहीं हो सकती । यह मनु की व्यवस्थाओं के विरुद्ध है ।

(४) मनु ने स्त्रियों को कहीं भी हीनभावना से नहीं देखा है, अपितु कहीं-कहीं तो पुरुषों से बढ़कर उन्हें सम्मान दियां है । कुछ उदाहरण देखिए —

(क) स्त्री के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए —
''स्त्रिया : पंथा देय :।'' [(२।११३ (२।१३८)] ।
(ख) पत्नी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिए —
''भार्यया ... विवादं न समाचरेत्'' [४।१८०] ।

(ग) पत्नी आदि पर झूठा दोषारोपण नहीं करना चाहिए और न अपशब्द कहने चाहिएँ । यदि कोई ऐसा करे तो वह दण्डनीय है —**"मातरं पितरं जायाम् ... आक्षारयन् शतं दण्डय :"** [८।१८०] ।

(ख) स्त्रियों को वेदाध्ययन एवं यज्ञोपवीत का अधिकार मनुसम्मत —

कुछ श्लोकों में स्त्रियों के लिए गुरुकुलवास, वेदाध्ययन, मन्त्रपूर्वक क्रियाओं का निषेध मिलता है ; यथा २।४१-४२ (६६-६७) ९।१८ आदि । ये सभी प्रक्षिप्त हैं । अन्य अनेक स्थलों पर यहां तक कि स्वयं वेद में भी स्त्रियों के लिए सभी धार्मिक कार्यों और वेदाध्ययन का विधान है ।

(१) मनु प्रत्येक धर्मकार्य में स्त्री-पुरुष का समान अधिकार समझते हैं । २।४ [२।२९] श्लोक में जातकर्म के अवसर पर बालक के लिए चाहे वह कन्या हो अथवा पुत्र, दोनों के ही लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक शहद चटाने का विधान है **''मन्त्रवत् प्राशनं चास्य''** । इससे स्पष्टत : सिद्ध है कि मनु मन्त्रोच्चारण या श्रवण आदि कार्यों में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं करते । इसी प्रकार नामकरण आदि भी यज्ञ और मन्त्रपूर्वक करने का विधान है [२।८] । इस प्रकार ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्रों के निषेध का विधान इस मान्यता के विरुद्ध है ।

(२) इसी प्रकार ३।२८ में अग्निहोत्रपूर्वक स्त्रियों का दैवविवाह करने का विधान किया है । अग्निहोत्र में मन्त्रोचारण हुआ ही करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु स्त्रयों की क्रियाएं मन्त्ररहित नहीं मानते । स्त्रियों की अन्त्येष्टि भी अग्निहोत्र से विहित है [५।१६७],विवाह भी स्वस्तिमन्त्रपूर्वक यज्ञ से विहित है [५।१५२] । ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान इस विधान के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है ।

(३) मनु ने घर में अग्निहोत्र आदि धर्मकार्यों के आयोजन की मुख्य जिम्मेदारी स्त्री को ही सौंपी है और यह आदेश दिया कि पुरुष को प्रत्येक धर्मकार्य स्त्री को साथ लेकर करना चाहिए — (क) **''शौचे धर्मे अन्नपक्त्यां च''** (घर की शुद्धि, धर्मकार्यों का आयोजन और भोजन बनाना आदि की

जिम्मेदारी स्त्री को सौंपे) [९।११] (ख) ''**अपत्यं धर्मकार्याणि**'' [९।२८] (सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन, अग्निहोत्र आदि धर्मकार्य स्त्री के अधीन होते हैं)। (ग) ''**तस्मात् साधारणो धर्म : श्रुतौ पत्न्या सहोदित :**'' [९।९६] (साधारण से साधारण धर्मकार्य में भी पत्नी को सम्मिलित करना चाहिए)। इसी प्रकार २।१-३ [२।२६-२८] श्लोकों में मनु ने संस्कारों को सभी के लिए समान रूप से आवश्यक मानते हुए शारीरिक एवं संस्कार-सम्बन्धी दोषों को हटाने वाला कहा है। वहां स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं माना। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं — एक तो यह कि सभी संस्कार मन्त्रपूर्वक होते हैं। अत : चाहे वह संस्कार स्त्री का हो अथवा पुरुष का, मन्त्रपूर्वक ही करना चाहिए। दूसरी यह कि संस्कार, द्विजाति वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष। इन दोनों श्लोकों में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान, विवाह को ही उपनयन संस्कार मानना, पतिसेवा को ही ब्रह्मचर्याश्रम मानना घर के कामों को ही अग्निहोत्र मानना, उक्त विधानों के विरुद्ध हैं, अत : प्रक्षिप्त हैं।

(४) स्त्रियों के वेदाध्ययन में स्वयं वेदों के प्रमाण — इन श्लोकों में स्त्रियों के लिए वेदमन्त्रों का उच्चारण न करने आदि का कथन है। अत : यहां यह विचार कर लेना भी उपयोगी रहेगा कि इस विषय में स्वयं वेद क्या कहते हैं।

(क) वेदों में सभी के लिए वेदवाणी का विधान है — ''**यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्य ; । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय . . . .**'' (यजु. २६।२) अर्थात् —''परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्य :) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं वैसे तुम भी किया करो . . . . (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियां आदि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है।'' [स. प्र. ७४]।

(ख) इसी प्रकार अथर्ववेद में ''**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**'' [३।५।१८] अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदों को पढ़ने और ब्रह्मचर्य को पालन करने के उपरान्त गृहस्थ की कामना करने वाली कन्या युवक पति का वरण करती है।

(ग) स्त्रियों के उपनयन में ऋग्. १०।१०९।४ मन्त्र भी प्रमाण है — ''**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता**'' — इन प्रमाणों में स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, गुरुकुलवास आदि विधान सिद्ध होते हैं।

(घ) वैदिक काल के इतिहास पर यदि दृष्टि डालकर देखें तो उससे भी स्त्रियों के लिए मन्त्रनिषेध आदि की बातें सिद्ध नहीं होतीं। ऐसी बहुत-सी ऋषिकाएं हुई हैं जो मंत्रद्रष्टा थीं। जिन-जिन सूक्तों के मन्त्रों का उन्होंने अर्थ-रहस्य जाना, उन सूक्तों पर उनके नाम ऋषि के रूप में आज भी उपलब्ध हैं। अकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार की लगभग ३० ऋषिकाओं के नाम आते हैं। उनमें अदिति, जुहू इन्द्राणी, घोषा, गोधा, अपाला, रोमशा, लोपामुद्रा आदि उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में गार्गी, मैत्रेयी ब्रह्मतत्त्वज्ञाता देवियों का वर्णन आता है। मनु ने अपनी स्मृति को वेदानुकूल और वेदाधारित माना है [१।१२५-१३२ (२।६-१३); १२।९४, ९५ २७, ९९, १०९, ११२, ११३ आदि]। अत : स्वयं वेद में विहित इन मान्यताओं के विरुद्ध होने से उपर्युक्त आक्षेप मान्य नहीं है।

६. शूद्र के विषय में मनु की धारणा —

(१) शूद्र अस्पृश्य नहीं — मनु ने शूद्र का कर्त्तव्य द्विजातियों की सेवा करना बताया है [१।९१]। इसी कर्त्तव्यनिर्धारण से मनु की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि मनु शूद्र को अस्पृश्य या घृणास्पद नहीं मानते।

(२) वस्तुत: जो व्यक्ति पढ़-लिख नहीं पाता और ऊपर के किसी वर्ण के योग्य नहीं होता वही शूद्र कहलाता है। इसी कारण २।१२६ में अज्ञानता के प्रतीकरूप में शूद्र की उपमा दी है — **''यथा शूद्रस्तथैव स:''**।

(३) शूद्र को धर्मपालन का अधिकार — शूद्र को धर्मपालन का अधिकार है। २।२१३ (२३९) में **''अन्त्यादपि परं धर्मम्''** कहकर शूद्र आदि से भी धर्म की शिक्षा ग्रहण करने को कहा है।

(४) शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार — शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार भी है। यह स्वयं यजु. २६।२ **''यथेमां वाचं कल्याणीम् . . . शूद्राय चार्याय च''** से संकेत मिलता है। इसकी व्याख्या पिछले 'स्त्री-वेदाध्ययन' सम्बन्धी प्रसंग में की जा चुकी है। वहां द्रष्टव्य है।

(५) वेदों में शूद्र को यज्ञ आदि का विधान — ऋक्. १०।५३।४-५ में **''पञ्चजना: मम होत्रं जुषध्वम्''** कहकर शूद्र को भी यज्ञ करने का आदेश है। निरुक्त ३।२।७ में 'पञ्चजना:' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निरामिषभोजी निषाद की गणना की है। इस पर विस्तृत विवेचन 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' विषय में किया जा चुका है।

(६) मनुस्मृति में कहीं-कहीं शूद्र के प्रति घृणा, आक्रोश, असम्मान प्रकट करने वाले वर्णन हैं। ये सभी वर्णन परवर्ती प्रक्षेप हैं। मनु की यह शैली है कि वे अधर्मी, पापी या दोषी व्यक्ति को छोड़कर किसी के प्रति आक्रोश का भाव प्रकट नहीं करते। प्रत्येक विधान सहज और निर्लिप्त भाव से करते हैं। यथा, १।९१ का विधान सहज वर्णन है। मनु ने निम्न श्लोक में द्विजों को भी यह आदेश दिया है कि वह वृद्ध शूद्र का सम्मान पहले करें —

''सोऽत्र मानार्ह: शूद्रोऽपि दशमीं गत:'' [२।११२ (१३७)]

(७) शूद्र पवित्र है और उत्कृष्ट वर्ण प्राप्त कर सकता है —

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृत: ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ।। (९।३३५।)

(शुचि:) शुद्ध-पवित्र [शरीर एवं मन से], (उत्कृष्टशुश्रूषु:) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (मृदुवाक्) मधुरभाषी (अनहंकृत:) अहंकार से रहित (नित्यं ब्राह्मण + आदि-आश्रय:) सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा मे संलग्न शूद्र भी (उत्कृष्टां जातिम् + अश्नुते) उत्तम ब्रह्मजन्मान्तर्गत द्विजवर्ण को प्राप्त कर लेता है ।।

इस श्लोक के वर्णन से मनु की शूद्र के प्रति यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को हीन नहीं मानते अपितु पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। यह मान्यता १०।६५ में भी वर्णित है।

(८) उपनयन प्रसंग २।११-१४ (३६-३९) में कहीं भी शूद्र के लिए उपनयन का निषेध नहीं है। इससे यह संकेत मिलता है कि जन्म से कोई शूद्र नहीं होता। शूद्र कुल में उत्पन्न बालक भी द्विज वर्णों में उपनयन करा सकता है।

इस संक्षिप्त विवेचन से शूद्र के प्रति मनु की धारणा स्पष्ट हो जाती है । इस विषयक कुछ विवेचन 'मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था' मान्यता शीर्षक में भी द्रष्टव्य है ।

(७) स्वर्ग और नरक —

(क) स्वर्ग या स्वर्गलोक से मनु का अभिप्राय — मनु इस संसार से भिन्न कोई स्वर्ग या नरकलोक नहीं मानते । सुख की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है और दु:ख की प्राप्ति का नाम नरक है, जो इसी संसार में, जीवन में प्राप्त होते रहते हैं । इसमें प्रमाण हैं —

(१) मनु ने 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग इहसुख और मोक्षसुख दोनों सुखों के लिए किया है । ३।७९ श्लोक में अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग है और उसके पर्यायवाची रूप में इहसुख के लिए 'सुख' का प्रयोग है ।

(२) सुख के अर्थ या पर्यायवाची रूप में अन्यत्र भी स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया है —

(क) **''अस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।''** २।३२ [२।५७]

(ख) **''दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितॄणामात्मनश्च ह ।''** (९।२८ ।।)

(ग) **''स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ।''**(४।१३ ।।)

(३) अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख के लिए स्वर्ग का प्रयोग —

(क) ३।७९ श्लोक में **''स्वर्गमक्षयमिच्छता''** ।

(ख) **इदमन्विच्छतां स्वर्गम्, इदमानन्त्यमिच्छताम् ।''** (६।८४ ।।)

(४) मनु ने १२।९, ३९-५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों का वर्णन किया है । उस प्रसंग में स्वर्गलोक या स्वर्गयोनि विशेष का कोई उल्लेख नहीं है ।

(५) व्याकरण शास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ-गतौ' धातु से **'ड प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते** अ. ३।२४८ वार्तिकसूत्र से 'ड:' प्रत्यय के योग से बनता है । गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं । 'स्व:' सुख का अनुभव होना, सुख में प्रविष्ट होना, सुख की प्राप्ति होना ही स्वर्ग अर्थात् सुख है ।

(६) इसी प्रकार 'स्वर्गलोक' का अर्थ है । 'लोकृ दर्शने' धातु से लोक शब्द बनता है जिसका अर्थ 'स्थान' है । जहां स्वर्ग प्राप्त होता है — सुख प्राप्त होता है वह स्वर्गलोक है ।

(ख) नरक की कल्पना मनुविरुद्ध — ४।८१, ८७-९१ श्लोकों में इक्कीस नरक योनियों की गणना है और अक्षत्रिय राजा से दान लेने वाले को इन योनियों की प्राप्ति बतलायी है । मनु के मत में 'नरक' नाम की कोई योनि या स्थान विशेष नहीं है । यह मान्यता निम्न प्रमाणों के आधार पर मनुविरुद्ध और प्रक्षिप्त सिद्ध होती है —

(१) नरक शब्द स्वर्ग का विपरीतार्थक है । मनु ने २।३२ [२।५७] में सुख और ३।७९ में स्वर्ग शब्द का प्रयोग सुख और 'अक्षय सुख' के लिए किया है और ९।२८ में **''दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितॄणामात्मनश्च ह''** कहकर 'वर्तमान जीवन के सुख' के अर्थ में किया है । इससे स्पष्ट है कि स्वर्ग के विपरीतार्थक शब्द 'नरक' का अर्थ कोई योनि या स्थानविशेष नहीं, अपितु दु:ख ही है । निरुक्त में महर्षि यास्क ने भी 'नरक' शब्द की इसी रूप में निरुक्ति की है — **''नरकंन्यरकं नीचैर्गमनम् इति वा''** अर्थात् दु:ख, अध:पतन या अवनति का नाम

नरक है [निरुक्त १।३।११]।

(२) मनु ने मृत्यु के उपरान्त जीव की केवल दो अवस्थाएं मानी हैं — एक तो संसार में स्थावर-जंगम योनियों में जन्म [६।६३, ७४, १२।९, ३९-५२] या ब्रह्मप्राप्ति [४।१४९; ६।८१ १२।११६, १२५]। इससे भी यही स्पष्ट है कि मनु के मत में नरक नाम की कोई पृथक योनि या स्थान नहीं है।

(३) मनु ने १२।९, ३९ से ५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों की गणना की है। इस गणना में नरकयोनि का उल्लेख न होना भी यह सिद्ध करता है कि मनु 'नरक' को नहीं मानते। १२।५२, ७४, ८१, श्लोकों में तो मनु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति कर्मों के अनुसार पूर्वोक्त योनियों में ही शरीर-धारण करके इसी संसार में सुख-दु:ख भोगता है। अत: नरकों की कल्पना मनुविरुद्ध है।

८. प्रेतशुद्धि आदि का आडम्बर मनुविहित नहीं —

प्रेतशुद्धि, सूतकशुद्धि के नाम पर कुछ लोगों ने एक आडम्बर खड़ा कर दिया है। अशुद्धि को दूर करने का सीधा-सा मतलब इतना ही है कि प्रेत, सूतक या किसी भी अन्य अशुद्धि से सम्पर्क होने पर जल आदि से शरीर की शुद्धि होती है और मन की अशान्ति रूपी अशुद्धि, जप आदि से दूर होती है [५।१०५, १०७, १०९]। बिना सम्पर्क के, दूर बैठे अशुद्धि मानना कोरा आडम्बर और अयुक्तियुक्त है। प्रेत शुद्धि और सूतकशुद्धि आदि के आडंबर का विधान करने वाला प्रसंग ५।५८-१०४ तक है। यह प्रसंग विभिन्न आधारों के अनुसार विषय, प्रसंग और शैली के विपरीत तथा मनुविहित सिद्ध न होकर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है उसके विश्लेषण से ये निष्कर्ष सामने आते हैं —

(१) प्रस्तुत विषय के प्रारम्भ का संकेत देने वाला श्लोक ५।५७ वां है और समाप्ति का संकेत देने वाला श्लोक ५।११० वां है। इन श्लोकों में दिये गये **"देहशुद्धिम् .... प्रवक्ष्यामि"** **"एष शौचस्य व: प्रोक्त: शारीरस्य विनिर्णय:"** संकेतों के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि यह "शरीर और शरीर से सम्बन्धित मन, बुद्धि, आत्मा आदि की शुद्धि" को कहने का विषय है [इसकी पुष्टि के लिए ५।५७ की समीक्षा भी पढ़िये]।

इस आधार पर इस विषय में वही श्लोक मौलिक माने जा सकते हैं जो इस विषयसंकेत से सम्बद्ध हों। अपने संकेत के अनुसार ही मनु ने १०५-१०६ श्लोकों में पहले भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों की गणना की है, फिर १०९ में अशुद्ध शरीर की **'अद्भि: गात्राणि शुद्ध्यन्ति'** कहकर शुद्धि होना कहा है। क्रोध, लालच, अधर्माचरण आदि से मनुष्य के मन, बुद्धि, आत्मा आदि भी अशुद्ध हो जाते हैं, संकेतानुरूप, शरीरसम्बन्धी इन अवयवों की शुद्धि भी कह दी है। इस प्रकार १०५ से ११० श्लोक विषयानुरूप हैं। इस बीच में ५८ से १०४ तक जितने श्लोक हैं, इनमें शरीर की शुद्धि का वर्णन न होकर आशौच मनाने की अवधि, सपिण्ड एवं असपिण्डों के आशौच की विधि, सूतक-अशुद्धि, परदेश में रहने वालों की अशुद्धि आदि का वर्णन है, जो विषयविरुद्ध है।

(२) उपर्युक्त विषय का संकेत देने वाले श्लोकों के आधार पर मनु की एक मान्यता भी बन जाती है कि वे 'अशुद्धि के सम्पर्क से शरीरादि की अशुद्धि होना' ही मानते है और उसकी शुद्धि का उपाय है — **"अद्भि: गात्राणि शुद्ध्यन्ति"** [१०९] अर्थात 'शरीर की शुद्धि जलों से होती है' आदि। ५८ से १०४ श्लोकों में जो भी कुछ वर्णित है वह मनु की इस मान्यता के विरुद्ध है और न इससे तालमेल खाती है — (क) ५८ से ६० श्लोक, जिनमें सपिण्ड-असपिण्ड के भेद से प्रेतशुद्धि

और अशुद्धि मानने की १-१० दिन तक ही चार अवधि दर्शाकर उसको एक 'धार्मिककृत्य' के रूप में वर्णित किया है, वे मनु की उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं। क्योंकि मनु केवल शरीर की अशुद्धि मानते हैं और यह सपिण्ड और असपिण्ड सबको समान रूप से होती है तथा उसकी अनेक दिनों की अवधि नहीं होती। शरीर अशुद्ध हुआ तो जल से धोने से वह शुद्ध हो गया। इस प्रकार इन श्लोकों की व्यवस्था मनु सम्मत ही सिद्ध नहीं होती, अत : ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। शेष श्लोक इन पर आधारित हैं, अत : आधारभूत श्लोकों के प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर वे स्वत : प्रक्षिप्त कहलायेंगे। (ख) ७४, से ८४ श्लोकों में परदेश में रहने वालों की शुद्धि कहना भी मनुविरुद्ध है। जब किसी अशुद्धि का सम्पर्क ही नहीं हुआ तो फिर उनके शरीर की अशुद्धि ही कहां हुई ? (ग) ८५-८७, १०३ श्लोकों में शूद्र को अस्पृश्य अर्थात अपवित्र माना है। मनु ऐसा नहीं मानते। वे शूद्र को शुचि :' अर्थात् 'पवित्र' मानते हैं [९।३३५]। अत : इन श्लोकों की मान्यता मनुविरुद्ध है।

(३) ५८ से १०४ श्लोकों की मान्यता है — 'सपिण्ड, असपिण्ड के भेद से चार अवधियों के [५८-६०] अनुसार शुद्धि मनाना'। यह अयुक्तियुक्त वर्णन है, क्योंकि मृतक के सम्पर्क से यदि शरीर की अशुद्धि मानी गयी है तो वह सपिण्ड-असपिण्डों की समान होगी और उसकी शुद्धि जल से हो जायेगी। इसके लिए न तो अवधि की कोई सार्थकता है और न सपिण्ड-असपिण्ड का भेद ही बनता है। यदि मानसिक अशुद्धि अर्थात् मन का शोक मानने की बात है,तो मन के शोक के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं हो सकती और न ही इस अवधि में सबकी वह दूर हो सकती है। अत : यह व्यवस्था ही अयुक्तियुक्त है। मनु की व्यवस्थाएं युक्ति-युक्त होती हैं। इस विरोध के आधार पर भी ये श्लोक मनुसम्मत नहीं माने जा सकते।

(४) प्रसंगविरोध के आधार पर यदि इन श्लोकों को परखें तो ये सभी प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होते हैं। ५७ वें और ११० वें श्लोक में 'शरीर और शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि' कथन करने का संकेत है। उनके अनुसार इस प्रसंग का क्रम इस प्रकार बनता है —

(क) शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि कहने के विषय का संकेत [५७] —

(ख) फिर १०५ में भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का परिगणन —

(ग) फिर शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी शुद्धियों का वर्णन [१०६-१०९], जो कि सर्व-सामान्य विधि के रूप में भावगाम्भीर्य से युक्त संक्षिप्त वर्णन है। इसमें शरीर-सम्बन्धी आत्मा, मन, बुद्धि, चरित्र की शुद्धि का उल्लेख है।

इस प्रकार मनु की मान्यता एवं विषय-संकेत [५७ तथा ११०] के अनुसार यह एक संगत क्रम बनता है। ५८ से १०४ श्लोकों ने उस क्रम को ही भंग कर दिया है और शरीरादि की शुद्धि से भिन्न अशुद्धि को 'धार्मिककृत्य' के रूप में मनाने की एक पृथक् पूर्वापर प्रसंग से भिन्न ही व्यवस्था विहित की है। शुद्धि की बात कहने के लिए पहले शुद्धिकारक पदार्थों का उल्लेख ही प्रासंगिक बनता है। इस आधार पर ५७ के बाद १०५ वां श्लोक प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध सिद्ध होता है। शेष बीच के सभी श्लोक प्रसंग-विरुद्ध प्रसंगभञ्जक होने के कारण प्रक्षिप्त हैं।

९. वेदविषयक अनध्याय या निर्धारित अवधि में वेदाध्ययन और उसका उत्सर्जन मनुसम्मत नहीं —

उक्त विधान करने वाले श्लोकों का प्रसंग ४।९५-१२७ में आता है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में वेदों का अनध्याय करना, श्रावणी पर सीमाबद्ध वेदाध्ययन और उसका उत्सर्जन, शुक्लपक्ष और कृष्ण पक्ष में वेद और वेदांगों के अध्ययन का विभाजन आदि बातें, मनु की मूलभावना, और शैली के अनुरूप नहीं है। इस प्रसंग के विश्लेषण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं —

(१) प्रतीत होता है कि वर्ष में साढ़े चार मास तक वेदाध्ययन करना, फिर उनका उत्सर्जन करना, बीच में विराम करना, शुक्ल पक्ष में वेदाध्ययन और कृष्ण पक्ष में वेदांगों का अध्ययन करना, ये व्यवस्थाएँ मनु से परवर्ती काल की हैं, जबकि मनुद्वारा विहित व्यवस्थाओं में शिथिलता आ गई थी। इन व्यवस्थाओं का मनुप्रोक्त व्यवस्थाओं से तालमेल नहीं बैठता, अपितु विरोध आता है। यथा — (क) मनु ने 'वेदों का अध्ययन' सभी द्विजों का आवश्यक और नैत्यिक कर्म माना है [१-८७-९०]। यदि पूर्वोक्त कर्मों का पालन कोई द्विज नहीं करता तो वह अपने वर्ण से पतित हो जाता है। विशेषरूप से वेदाभ्यास को छोड़ने वाला द्विज शूद्रकोटि में गिना जाता है — **''योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वं आशु गच्छति सान्वय:''** [२।१४३ (१६८)] (ख) मनु ने वेदाध्ययन को नैत्यिक दिनचर्या कहा है और इस पवित्र कार्य में कभी अनध्याय नहीं माना है — **''वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके। नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि''** ।। [२।८० (१०५)] **''नैत्यके नास्त्यनाध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्। ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्याय वषट्कृतम्''** ।। [२।८१ (१०६)] (ग) नैत्यिक वेदाध्ययन के विधायक अन्य प्रमाण भी दृष्टव्य हैं —

(अ) **य: स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियत: शुचि:।**
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ।।
२।८२ ।। (२।१०७)

(आ) **आ हैव स नखाग्रेभ्य: परमं तप्यते तप:।**
य: स्त्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ।।
(२।१४२ [१६७])

इसी प्रकार ग्रहस्थों के व्रतों में भी स्पष्ट निर्देश है —

(इ) **सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिन:।**
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ।। (४।१७ ।।)

(ई) **बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।**
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।। (४।१९ ।।)

(उ) **''स्वाध्याये चैव युक्त: स्यात् नित्यम्''** (४।६४)

(ऊ) **''स्वाध्याये नित्ययुक्त: स्यात्''** (३।७५)

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु प्रत्येक व्यक्ति के लिए वेदों का अध्ययन नित्यप्रति आवश्यक मानते हैं। मनु ने पांच महायज्ञों का जो प्रतिदिन विधान किया है, उनमें 'ब्रह्मयज्ञ' संध्योपासना और वेदाध्ययन का ही नाम है। इस प्रकार के प्रमाण मनुस्मृति में पर्याप्त मिलते हैं।

९५-१२७ श्लोकों में साढ़े चार मास वेद पढ़ना, फिर उनका उत्सर्जन गांव से बाहर करना, शुक्लपक्ष में वेद पढ़ना और कृष्णपक्ष में वेदांगों को पढ़ना आदि जो व्यवस्थाएँ दी गई हैं वे पूर्वमान्यताओं से तालमेल नहीं रखतीं और विरुद्ध भी हैं। जब प्रतिदिन ही वेद पढ़ने का विधान है तो फिर उनको साढ़े चार मास तक पढ़ने के लिए प्रारम्भिक अनुष्ठान करना, फिर उत्सर्जन का अनुष्ठान करना आदि बातों का अवसर ही नहीं आता। अत: ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रसंग में कुछ और भी अन्तर्विरोध हैं —

(२) ९५, १०८ श्लोकों में शूद्र के पास वेद न पढ़ने का विधान 'शूद्र को वेद पढ़ने का विधान नहीं है' इस मान्यता पर आधारित है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है और वेदविरुद्ध भी (इसके विस्तृत ज्ञान के लिए २।१४४-१४९ (१६९-१७४) श्लोकों पर 'अन्तर्विरोध' शीर्षक समीक्षा देखिये, और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ६ भी]।

(३) १०९-१११, ११७, १२४, श्लोकों में मृतकश्राद्ध की मान्यता है। यह भी मनुविरुद्ध है [इसके लिए ३।११९-२८४ श्लोकों पर समीक्षा द्रष्टव्य है, और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ३ भी]।

(४) ११२ में सूतक की मान्यता है। सूतक का वर्णन मनुप्रोक्त नहीं सिद्ध होता [इसके लिए द्रष्टव्य है ५।५८-१०४ श्लोकों पर 'विषयविरोध' शीर्षक समीक्षा क्योंकि सूतकविधान इसी प्रसंग के ६१-६२ श्लोकों में आता है]।

(५) ११३ वें श्लोक में संध्याकालों में वेद न पढ़ने का कथन है, जबकि पांचयज्ञों का विधान और संध्योपासना का विधान संध्याकालों में ही किया है [२ । ७६ —७८ (१०१-१०३), १५१ (१७६), ४ । ९२ —९४]।

(६) ११३ —११४ वें श्लोकों में पर्वदिनों में वेदाध्ययन निषिद्ध है, जबकि ४ । २५ ; ६ । ९ में इन पर्वों के दिन विशेषयज्ञों को रचाने का विधान है और यज्ञ वेदमन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

(७) ११६ वें श्लोक में श्मशान में वेद न पढ़ने का कथन है जबकि ५ । १६७ में अन्त्येष्टि कर्म यज्ञसम्पादन द्वारा विहित है और यज्ञ में वेदमन्त्रों का उच्चारण होता है।

(८) ११२ वें में मांसभक्षण का वर्णन मनुविरुद्ध है [द्रष्टव्य —४।२६-२८ श्लोकों पर 'अन्तर्विरोध' शीर्षक समीक्षा और इसी अध्याय में मान्यता संख्या २ भी]।

(९) १२३ —१२५ श्लोकों में वेदों की ध्वनियों का परस्पर विरोध दर्शाना मनु के २।७६ —७८ [५१ —५३] श्लोकों के विरुद्ध है। जब तीनों से एक-एक पाद निकालकर बनाया गया गायत्रीमन्त्र एक साथ उच्चारित किया जा सकता है तो वेदों की ध्वनि में क्या आपत्ति है ? मनु-अनुसार सभी वेद ईश्वरप्रोक्त हैं।

(१०) १०१ से १२६ श्लोकों में वेदो के अनध्यायों का विधान ही मनु के २।७९ —८१ [१०४ —१०६] के विरुद्ध है। इन श्लोकों में मनु ने वेदाध्ययन में अनध्याय का निषेध किया है। इस प्रकार इन अन्तर्विरोधों के आधार पर ९५ से १२७ तक सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. **विषयविरोध** — (१) १०१ से १२७ श्लोक विषयबाह्य हैं। इनका 'सतोगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है और न ये व्रत हैं, अत : प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत विवेचन ४ । ३३ —३४ पर द्रष्टव्य]। (२) ये श्लोक इसलिए भी विषयविरुद्ध हैं क्योंकि शिष्यों को वेदाध्यापन का विषय द्वितीय अध्याय का है [२ । ४४ —४८ (६९ —७३), १३९ (१६४), १४० —१४१ (१६५ —१६६), ३ । १ —२]। यहाँ गृहस्थियों के व्रतों का विषय है [४ । १३]। अत : इस स्थान पर शिष्यों के अध्यापन-

अनध्यापन, अध्याय-अनध्याय का वर्णन विषयविरुद्ध है। यह द्वितीय अध्याय में ही संगत कहा जा सकता था।

३. वेदविरोध – ९९, १०८ श्लोकों की शूद्र के पास वेद न पढ़ने की मान्यता स्वयं वेदविरुद्ध है। वेद में शूद्र को यज्ञ करने और मन्त्रश्रवण का विधान है। प्रमाणार्थ द्रष्टव्य २।४२ और ९।३३५ की 'वेदविरोध' शीर्षक समीक्षाएँ और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ६ भी।

४. शैलीगत आधार — (१) इस प्रसंग के १०३ वे श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' पद से स्पष्टत: यह मनुभिन्न व्यक्ति द्वारा प्रोक्त सिद्ध होता है। (२) इस प्रसंग के १०१ से १२७ श्लोकों की शैली रूढ़ि पर आधारित है। ११४ व १२४ की शैली अयुक्तियुक्त है।

१०. प्रायश्चित का अर्थ, उद्देश्य एवं फल —

'प्रायश्चित्त' शब्द प्राय-चित पदों से समास में **'पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्'** (अष्टा. ६।१।१५७) से सुट् आगम के योग से सिद्ध हुआ है। **तपादि साधनपूर्वकं किल्विषनिवारणार्थं चित्तम्=निश्चयम्, प्रायश्चित्तम्'**। जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कार्य को करके मन में उसके करने के प्रति खिन्नता अनुभव करता है, तब वह उसके दण्ड रूप में स्वयं तप = कष्टसहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुन: मैं यह पाप नहीं करूंगा।' यह प्रायश्चित्त कहलाता है। ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता। जैसे कोई व्यक्ति किसी को अचानक गलत बात कह जाये और कहने के बाद उसे दु:ख अनुभव हो तो वह खेद प्रकट करता है। इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती और आगे वैसा न करने के लिए सावधान हो जाता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता अपितु पाप-भावना क्षीण होती है प्रायश्चित करने वाला व्यक्ति किये हुए पाप-कर्म पर पश्चाताप का अनुभव करता है उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है। वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है और सावधान रहता है [११।२२९–२३०]। इस प्रकार प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख होता जाता है।

यही मान्यता प्रायश्चित्त की परिभाषा वाले ११।२३० और ११।२३२ श्लोकों से सिद्ध होती है। और, दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि मनु किये हुए अधर्म के फल को किसी अवस्था में निष्फल नहीं मानते —

"**न त्वेव कृतोऽधर्म: कर्तुर्भवति निष्फल:।**" (४।१७३।।)

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाओं में जहां जिस श्लोक पर 'पाप से छूट जाना' आदि मान्यता वाले अर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नहीं हैं। •

११. दायभाग का विवरण —

मनु ने दायभाग में पुत्र, पुत्री, पिता, माता सभी का अधिकार माना है। माता-पिता के जीवित रहते सारी सम्पत्ति उन्हीं की रहती है। पुत्र उसे बंटा नहीं सकते [९।१०४]। हाँ, यदि पिता चाहे तो अपने जीते जी अपनी सम्पत्ति को सन्तानों में बांट सकता है। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त दायभाग के बंटवारे के कई विकल्प विहित हैं। सभी पुत्र मिलकर जिस प्रकार सहमत हों, उसी

विधि को अपना सकते हैं । यथा —

१. सभी भाई मिलकर पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें [९ । १०४] ।

२. अथवा इकट्ठे रहना चाहें तो ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति को ग्रहण कर ले । वह छोटे भाइयों के साथ माता-पिता के समान कर्त्तव्यों को निभाकर उनका पालन-पोषण करे । छोटे भी उसको माता-पिता के समान आदर दें [९ । १०५] । कर्त्तव्य न निभाने पर बड़ा भाई दण्डनीय होता है, [९ । २१३] और बड़े के स्थान पर आदरणीय नहीं होता [९ । ११०] ।

३. बड़े भाई की छत्रछाया में रहकर यदि बाद में भाई अलग होना चाहें तो पैतृक धन का विभाजन इस प्रकार होगा — कुल धन में से बड़े को धन का बीसवां भाग अतिरिक्त मिलेगा, मध्यम को उससे आधा, छोटे को चौथाई । यह उद्वारभाग कहलाता है [९ । ११२] ।

समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है — मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ९६० रुपये है । उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (९६० ÷ २० = ४८) ४८ रु. 'उद्वार' निकलेगा, मझले भाई का चालीसवां भाग (९६० ÷ ४० = २४) २४ रु. होगा, छोटे भाई का अस्सीवां भाग (९६० ÷ ८० = १२) १२ रु. 'उद्वार' होगा । 'उद्वार' का 'धन' बंटने के बाद शेष को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा —४८ + २४ + १२ = ८४, ९६० — ८४ = ८७६, ८७६ ÷ ३ = २९२, इस प्रकार २९२–२९२ रु. प्रत्येक के हिस्से में आये । इस विधि से बड़े भाई को २९२ + ४८ = ३४० रु., उसमें मझले भाई को २९२ + २४ = ३१६ रु., छोटे भाई को २९२ + १२ = ३०४ रु. प्राप्त हुए । यह उद्वारभाग बड़ों को तभी मिलेगा जब वे अपने छोटे भाइयों का पितृवत् पालन करेंगे ।

उद्वार-भाग का विधान क्यों ? ९ । १०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है । इस श्लोक में उद्वार अंश के विभाजन के बाद समान-भाग का विभाजन है । यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं । यह वर्णन विभाजन के द्वितीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है । यह तभी प्राप्त होता है जब बड़े भाई अपने से छोटों का पालन-पोषण करें । सम्मिलित रहते हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रम करें । इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को अलग होते समय यह अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाये होते हैं ।

इस उद्वारभाग को निकालने के बाद शेष बचे धन को बराबर-बराबर बांट लिया जाता है । [९ । ११६]

४. अथवा उद्वार भाग न निकालें तो बड़ा भाई दो भाग सम्पत्ति ले, मध्यम डेढ़ और छोटा एक भाग ग्रहण करे । [९ । ११७] ।

५. सभी भाई, बहनों को अपने-अपने भाग में से चतुर्थांश दायभाग प्रदान करें [९ । ११८] । माता का जो निजी धन होता है, उस पर कुमारी लड़कियों का ही अधिकार होता है । [९ । १३१] । माता की मृत्यु पर माता के अधिकार में स्थित धन को सभी पुत्र और विवाहित पुत्रियाँ बराबर बांट लें [९ । १९२] यह धन छह प्रकार का होता है। स्त्रीधन का विवरण मनु ने ९ । १९४—१९७ में दिया है— (१) **अध्यग्नि** = विवाह संस्कार के अवसर पर दिया गया धन, (२) **अधि-आवाहनिकम्** = पति के घर आते हुए पिता के घर से कन्या को प्राप्त धन, (३) प्रीतिकर्म में प्राप्त धन = प्रसन्नता आदि के अवसर पर पति द्वारा प्रदत्त धन, (४) कन्या को भाई से प्राप्त धन, (५) पिता से प्राप्त धन, (६) माता से प्राप्त धन ।

६. अपुत्रवान् पिता-माता की दायभागीय सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी उसकी कन्या ही होगी ।

वह सम्पत्ति अन्य किसी को नहीं दी जा सकती [९ । १३०] ।

७. अपुत्रवान् रहने पर पुत्री के पुत्र अर्थात् धेवते को गोद लेकर उसे भी सम्पूर्ण दायभाग दिया जा सकता है । यदि इसके बाद किसी दम्पती को पुत्र प्राप्त हो जाता है तो धेवते और पुत्र को समान भाग मिल जायेगा [९ । १३१, १३४] ।

८. नपुंसक, जन्म से अंधे, बहरे, पागल, वज्रमूर्ख और गूंगे, किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग होने के कारण असमर्थ पुत्र, ये धन के भागी नहीं होते । अन्य भाई इनके धन का संरक्षण करते हुए इनका पूर्ण पालन-पोषण करें । हां, यदि ये विवाह करलें तो इनके पुत्र अपने पिता के उस धन के अधिकारी हैं [९ । २०१–२०३] ।

९. जूआ, चोरी, डाका, आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति दायभाग से वंचित हो जाते हैं [९ । २१४] ।

१२. मनुस्मृति में विवाह की आयु—

कुछ लोग मनुस्मृति के निम्न श्लोक के आधार पर मनुस्मृति में बालविवाह या अल्पायुविवाह की मान्यता को स्वीकार करते हैं । वस्तुत: यह उस समय का परवर्ती श्लोक है, जब युद्धों, अराजकता आदि कारणों से कन्याओं की सुरक्षा चिन्ताजनक बन गयी थी । उस भय या चिन्ता को दूर करने के लिए शास्त्रों में इस प्रकार के विधान ही कर दिये गये —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर: ।। (९ । ९४)

अर्थ — गृहस्थ धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का पुरुष आठं वर्ष की कन्या से विवाह करे ।

इसका निराकरण मनु द्वारा विहित समावर्तन ३ । १–३, विवाह ३ । ४–६२ तथा स्त्रीधर्म ५ । १४७–१६६, ९ ।१ –१०२ वर्णनों से हो जाता है । उन प्रसंगों के अध्ययन से इस विषयक निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं –

(१) मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के विवाह की आयु — अत्यन्त प्रसिद्दि के कारण मनु ने यहाँ विवाह की आयु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है । प्रसंगवश उस पर यहां विस्तृत विवेचन किया जाता है ।

वेदों में तथा अन्य शास्त्रों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गई है । इसी आधार पर वेदों में सौ वर्षों से अधिक स्वस्थेन्द्रियों से युक्त जीवन-प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है — **'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतं शृणुयाम शरद: शतं प्रब्रवाम शरद: शतम् अदीना: स्याम शरद: शतं भूयश्च शरद: शतात् ।।'** [यजु. ३६ । २४]

(क) इस औसत आयु के आधार पर मनु ने मनुष्य-जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित करके उसकी अवधि निधारित की है —

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विज: ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ।।
(४ । १ ।। ५ । १६९ ।।)

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ।। (६ । ३३ ।)

सौ वर्ष की आयु के इस प्रकार २५-२५ वर्ष के चार भाग होते हैं । आयु के प्रथमभाग में अर्थात् २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए । द्वितीय भाग में अर्थात् २५ के पश्चात् गृहस्थ बनकर रहे । पुत्र का पुत्र होने पर अथवा त्वचा, केश पक जाने पर [६ । २] गृहस्थ से वानप्रस्थ बनकर तृतीयभाग में अर्थात् ७५ वर्ष तक वनस्थ रहे उसके,पश्चात् चतुर्थ भाग में संन्यासी बन जाये ।

इन विधानों से मनु ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि पुरुष की विवाह की आयु कम से कम २५ वर्ष है । उससे पूर्व विवाह नहीं होना चाहिए ।

(ख) स्त्री के विवाह की आयु — इसका संकेत मनु ने ९ । ९० श्लोक में दिया है —
''त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमतीसती । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ।''
अर्थात्-मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त कन्या स्वयंवर कर सकती है ।

कन्याओं को मासिक धर्म सामान्यतः १३-१५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है । तीन वर्ष के अनन्तर यह काल १६-१८ की आयु का होता है । अतः कन्या के विवाह की कम से कम आयु १६ वर्ष है । २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की कन्या से विवाह करे । इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात से विवाह होना चाहिए । क्योंकि प्रजनन सामर्थ्य एवं शरीर-रचना की दृष्टि से १६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष के पुरुष के तुल्य होती है ।

(ग) मनु ने विवाहोपरान्त स्त्री के कर्त्तव्यों का जो वर्णन किया है, जैसे — गृहकार्यों में दक्ष होना, घर की साज-सज्जा, शुद्धि आदि में चतुर होना, आय-व्यय की संभाल रखना [५ । १५०], गृह-स्वामिनी होना, सभी वस्तुओं की संभाल, धार्मिक अनुष्ठानों का संयोजन [९ । ११, २६-२८, ९६, १०१], इनसे भी यह ज्ञात होता है कि ये किसी अल्पायु के लिए नहीं अपितु समझदार युवती के लिए विहित कर्त्तव्य हैं । इससे भी यह सिद्ध होता है कि कन्या की विवाह योग्य आयु १६-१७ वर्ष या इससे ऊपर ही है ।

(२) आयुर्वेद के अनुसार विवाह की आयु — इस विषय में वैद्यक ग्रन्थ सर्वोत्तम प्रमाण हैं, क्योंकि उनमें शरीर के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है । आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' में शरीर की वृद्धि और क्षीणता के आधार पर चार अवस्थाएं प्रदर्शित की हैं और तदनुसार विवाह की आयु निर्धारित की है —

''चतस्त्रो अवस्थाः शरीरस्य वृद्धिः, यौवनम्, संपूर्णता, किंचित् परिहाणिः चेति । आषोडशात् वृद्धिः, आपञ्चविंशतेः यौवनम्, आचत्वारिंशतः संपूर्णता, ततः किञ्चित् परिहाणिः चेति ।'' [सुश्रुत सूत्रस्थान ३५ । २५ ।।] = शरीर की चार अवस्थाएं हैं, सोलहवें वर्ष से चौबीस तक वृद्धि = बढ़ोतरी की अवस्था, पच्चीसवें वर्ष से यौवन का प्रारम्भ होता है,और चालीसवें में यौवन की परिपक्वता होती है । उसके पश्चात् शरीर की धातुओं में कुछ-कुछ क्षीणता आने लगती है ।

यह युवावस्था ही विवाह की अवस्था होती है । इससे पूर्व शरीर की धातुओं में अपरिपक्वता होती है । बालविवाह से जहां शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहां गर्भ और सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएं हो जाती है ; जैसे —गर्भ का न रहना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु, सन्तान का अस्वस्थ रहना आदि । इसी कारण सुश्रुतकार ने २५ वर्ष से पूर्व

पुरुष का, १६ वर्ष से पूव कन्या के विवाह का निषेध किया है । कुशल वैद्य २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की कन्या को प्रजनन में समसामर्थ्य वाले बताते हैं । निम्न प्रमाणों में ये मान्यताएं द्रष्टव्य हैं —

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।।
(सुश्रुत सूत्र. ३५ । १० ।।)
ऊनषोडश वर्षायामप्राप्त : पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थ : स विपद्यते ।।
जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रिय : ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ।।
(सुश्रुत श. १० । ४७-४८ ।।)

(३) वेद में विवाह की आयु — वेद में ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा युवक पुरुष को वरण करने का कथन है । उपर्युक्त प्रमाणों में युवावस्था २५ वर्ष के अनन्तर बतलायी गयी है । इस प्रकार वेदों में २५ वर्ष के अनन्तर ही विवाह की आयु मानी गयी है । मन्त्र निम्न है —

''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।।''
(अथर्ववेद ११ । ५ । ५ ।।)

अर्थात् — ''जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण जवान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवे ।'' (सं. वि. वेदारम्भप्रकरण)

१३. मनुस्मृति में मनुष्यों के ऋषि, पितर, देव आदि विभिन्न वर्ग —

मनु द्वारा २ । ११५-१३१ श्लोकों में वर्णित विभिन्न अध्यापयिता विद्वान् ही स्तर के अनुसार ऋषि देव और पितर हैं । इनमें किसी विद्या के साक्षात् द्रष्टा, विशेषज्ञ, 'ऋषि' कहलाते हैं । दिव्य-गुण-आचरण की प्रधानता वाले विद्वान् 'देव', और पालक गुण कीप्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता आदि गुरुजन 'पितर' होते हैं । कुछ वर्ग, स्वभाव एवं प्रवृत्ति के आधार भी बनते है । देवों का नाम दिव्य स्वभाव की प्रधानता के कारण भी है । इसी प्रकार असुर, गान्धर्व, राक्षस, पिशाच भी स्वभाव संस्कार और प्रवृत्ति के कारण प्रसिद्ध होते हैं । मनुस्मृति में इनकी यत्र-तत्र चर्चा आती है । सभी वर्णनों के साररूप में, इनके विषय में मनु की मान्यता प्रदर्शित की जाती है —

(क) ऋषि कौन ?

'ऋषी गतौ' धातु से 'इन' प्रत्यय और '**इगुपधात् कित्**' के योग से 'ऋषि' शब्द की सिद्धि होती है । गति के ज्ञान गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं । ऋषि सबसे उच्चस्तर का विद्वान् व्यक्ति होता है । वेदमन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला आप्तपुरुष, ऋषि कहलाता है । यह वेदों और विद्याओं के गूढ़ ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यता उसमें होती है । वही धर्मनिर्णेता होता है ।

(क) निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है —"ऋषि: दर्शनात् । स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यव: ।" [निरु. २ । ११] अर्थात् ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है । औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है । इसी प्रकार "साक्षात्कृतधर्माण: ऋषयो: बभूवु: ।" अर्थात् ऋषि धर्म और ईश्वर के साक्षात्कर्ता होते हैं । [निरु. १ । २०] ।

(ख) ब्राह्मणों में भी ऋषि की यही विशेषताएं वर्णित की हैं —

(अ) "यो वै ज्ञातोऽनूचान: स ऋषिरार्षेय: ।"

(श. ३ । ३ । ४ । १९)

(आ) "एते वै विप्रा यदृषय: ।।

(श. १ । ४ । २ । ७)

(ग) महर्षि मनु ने भी ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है ---

(इ) न हायनैर्नपलितै: न वित्तेन न च बन्धुभि: ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचान: स नो महान् ।।
(२ । १२९ ।।)

(ई) ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयु:।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ।। (४।९४)

(उ) आर्षं धर्मोपदेशम् च ।। (१२ । १०६ ।।)

(ऊ) "अथ यदेवानुब्रवीत । तेनर्षिभ्यं ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहु: ।।"

(शत. १ । ७ । ५ । ३)

"अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ।।" (शत. १।४।५।३)

"अर्थ — सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकर्म' कहाता है, उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है वह उनको सुख देने वाला होता है । यही व्यवहार अर्थात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है । जो सब विद्याओं को जानके सबको पढ़ाता है; उसको ऋषि कहते हैं ।

जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है । उसे उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिए प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है । जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है ।"

(द. ल. ग्र. सं. ६४५-२४७)

(ख) देव कौन ?

'दिवु = क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' (दिवादि) धातु से 'पचाद्यच्' से 'अच्' प्रत्यय अथवा 'दिवु-मर्दने' (चुरादि) या 'दिवु परिकूजने' (चुरादि) धातु से 'अच्' प्रत्यय के भाग से 'देव' शब्द निष्पन्न होता है । देव जड़ और चेतन [illegible] के होते हैं (विस्तृत विवरण १ । ६७ की समीक्षा में देखिए) । इस श्लोक में देव शब्द से चेतन देव अभीष्ट है शतपथ में आता है —

(अ) "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति ।

(शतपथ १ । १ । १ । ४-५)

"दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएं होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य । वहां सत्य और झूठ दो कारण हैं । जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं, वे 'देव' और वैसे ही झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं । जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं ।।" (द. ल. ग्र. सं. २४५–२५५)

(आ) विद्वांसो हि देवा: ।। (शत. ३ । ७ । ६ । १०)

(इ) ये ब्राह्मणा: शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते, मनुष्यदेवा: ।। (शत. २।४।३।१४ ।।)

(ई) सत्यसंहिता वै देवा: ।। (ऐ. ब्रा. १ । १६)

अर्थात् विद्वान् मनुष्यों को देव कहते हैं । निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है — **'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । यो देव: स देवता"** [निरु. ७ । १५] अर्थात् दान देने से, प्रकाश करने से, प्रकाश होने से, द्युस्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं । देव को ही देवता कहा जाता है । इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देने वाले, दिव्यगुण एवं उत्तम आचरण वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है । यथा — **"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ।"** (प्रपा. ७ । ११) ।

मनुस्मृति में ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है । निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं —

(उ) ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यव: ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं व: शिशुरुक्तवान् ।।२।१३१ ।।

(ऊ) न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिर: ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवा: स्थविरं विदु: ।।२।१२७ ।।

२. 'देवता-अभ्यर्चन' से अभिप्राय —

निरुक्त में कहा गया है कि **"यो देव:, सा देवता"** [७।४।१५] देव को ही देवता कहा जाता है । देव शब्द से तल् और टाप् प्रत्यय के प्रयोग से देवता शब्द सिद्ध हुआ है । चेतन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होता है । क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताओं का देवता है । जड़ देव उपयोग के योग्य होते हैं, चेतन देव (विद्वान्, माता, पिता आदि) सत्कार और सेवा के द्वारा प्रसन्न करने योग्य । लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, अन्य नहीं । अत: यहां **'देवताऽभ्यर्चनम्'** से अभिप्राय परमात्मदेव की उपासना करने से है । यदि कहीं अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नामों से देवताओं की स्तुति का वर्णन मिलता है तो वह भी उनके माध्यम से परमात्मा की ही स्तुति अभिप्रेत है । क्योंकि ये परमात्मा की ही दिव्यशक्तियाँ या गुण हैं, उसी के प्रत्यंग हैं । भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति से अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तुति करना । इस प्रकार सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं । निरुक्तकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है —

(अ) "महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

कर्मजन्मान : आत्मजन्मान : आत्मैवैषां रथो भवति ।।
आत्माश्व : आत्मायुधम्, आत्मेषव : सर्वं देवस्य देवस्य ।''
(निरुक्त ७।१।४)

अर्थात् — एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है । सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेक-विध ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण अनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, अन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यंगरूप हैं । उनका इसी में समाहार हो जाता है । उस एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं, इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है । इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, गमनहेतु , आयुध = शत्रुओं का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा , इषु = बाण के समान सब दुष्टगुणों और दु :खों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमात्मा है । परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है, अधिक नहीं । इस प्रकार अन्य सब देवता परमेश्वरवाची ही हैं ।

इसमें वेदों के प्रमाण हैं --

(आ) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य : सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु : ।।
(ऋ. १०।१६४।४६)

(इ) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा : ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आप : स प्रजापति : ।।
(यजु. ३२।१ ।।)

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए —

(ई) आत्मैव देवता : सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ।।
(१२।११९ ।।)

(उ) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।
(१२।१२३ ।।)

(ऊ) मनु ने अनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वीकार किया है । प्रमाणरूप में द्रष्टव्य हैं — २।७६-७८ (२।१०१-१०३), ४।९२-९३, १२।११८, ११९, १२२, १२५ ।।

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में २ । १५१ [१७६] आदि श्लोकों में '**देवता-अभ्यर्चनम्**' का अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात् संध्या करने से है । अन्य अर्थ भ्रान्तिपूर्ण हैं । इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है ।

इस प्रकार—देव, सात्त्विक, प्रवृति के [१२ । ४०] विद्वानों को कहते हैं, और अग्निहोत्र को भी देवयज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है । यज्ञ का विशेष अनुष्ठान और उसमें यज्ञ कर्म करने वाले विद्वान् व्यक्ति को कन्यादान करना, ये दोनों बातें 'दैव' इस संज्ञा के अनुरूप ही हैं । यह विधि देवों = विद्वानों के कर्मानुरूप और सम्मत है, अत : ३ । २८ में इस प्रकार के विवाह को दैवविवाह

कहा है ।

जड़ देवता—

चेतन देवों के अतिरिक्त, सूर्य, अग्नि, वायु, पृथिवी,अन्तरिक्ष, द्युलोक, चन्द्रमा, नक्षत्र, दशप्राण = प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, बारह मास—ये जड़ देवता कहलाते हैं । निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है— "**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा ।**" (७ । ४ । १५) अर्थात्—'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या द्युस्थानीय को देवता कहते हैं ।' सूर्य द्युस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान् द्रव्यों को प्रकाशित करता है, अत: देव या देवता है ।

शतपथ ब्राह्मण में देवताओं पर प्रकाश डालते हुए जड़ और चेतन-रूप में ३३ देवता परिगणित किये हैं—

"**स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशत् इति ? अष्टौ वसव:, एकादश रुद्रा:, द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत् इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।**

कतमे वसव इति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च, एते वसव: ।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा: (प्राण:, अपान:, व्यान:, समान: उदान:, नाग:, कूर्म: कृकल:, देवदत्त:, धनञ्जयश्च) आत्मा-एकादशस्ते ।

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासा: संवत्सरस्य एते आदित्या: ।

(३) **कतम इन्द्र, कतम: प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञ: प्रजापतिरिति तदाहु: । यदयमेक इव पवते । कतम एको देव इति ? स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते ।** (शत. कां. १४ । प्रपा. १६) "

(ग) पितर कौन ?

पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानै: ते पितर: "=जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं,वे 'पितर' कहलाते हैं । इसमें ब्राह्मणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(अ) "**देवा वा एते पितर:**" (गो. उ. १ । २४)

(आ) "**स्विष्टकृतो वै पितर:**" (गो. उ. १ । २५)

अर्थात् सुखसुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं ।

(इ) "**मर्त्या: पितर:**" (श. २ । १ । । ३ । ४)

जीवित मनुष्य ही 'पितर हैं अर्थात् मृत नहीं ।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना और भ्रान्ति है । माता-पिता-पितामह-आचार्य आदि ही 'पितर' कहलाते हैं ।

मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है । ४ । २५७ में उनके ऋण से उऋण होने के लिए कहा है— "**महर्षि-पितृ-देवानां गत्वानृण्यं यथाविधि**" । यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है । मनुस्मृति के अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(ई) अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।। २ । १२६ ।।

(उ) पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ।। १२ । ४९ ।।

(ऊ) पितृदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम् ।। १२ । ९४ ।।

(ए) दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ।। ९ । २८ ।।

(ऐ) ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ।। ३ । ८० ।।

मनु ने ४ । ३०—३१ में जीवित, धार्मिक, वेदवित् विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विधान किया है । ये श्लोक मनु की इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं । यही श्राद्ध है । हव्य-कव्य आदि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पितृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं ।

(औ) पितरों में वेद का प्रमाण—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ।।
(यजु. २ । ३४)

''अर्थ—पिता वा स्वामी अपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत से पितॄन्) जो मेरे पिता पितामह आदि, माता, मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो । सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्जं वहन्ती) जो उत्तम-उत्तम जल (अमृतम्) अनेक विध रस (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो (स्वधास्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगो ! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भागों से सदा सुखी रहो ।'' (द. ल. ग्र. सं. २४५—२५५)

(अं) पितरों की गणना और उनका अभिप्राय—

''जिनकी पितृसंज्ञा है और जो सेवा के योग्य हैं वे निम्न हैं—

१—सोमसदः । २—अग्निष्वात्ताः । ३ —बर्हिषदः । ४—सोमपाः । ५—हविर्भुजः ६—आज्यपाः ७—सुकालिनः । ८—यमराजाः । ९—पितृपितामहप्रपितामहाः । १०—मातृपितामहप्रपितामहयः । ११—सगोत्राः । २—आचार्यादिसम्बन्धिनः ।

१ — **सोमसदः**—'**सोमे ईश्वरे सोमयोगे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्च**' से '**सोमसदः**' = जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति आदि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं

२ — **अग्निष्वात्ताः—'अग्निरीश्वरः, सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी = जल-व्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैः ते 'अग्निष्वात्ताः'** = अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक अग्नि, उनके गुणज्ञान करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं ।

३ — **बर्हिषद :— 'बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शम-दमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति' ते 'बर्हिषद :'** = जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या आदि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं।

४ — **सोमपा :— 'यज्ञेन उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा' ते 'सोमपा :'** = जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम औषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं।

५ — **हविर्भुज :— 'हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां' ते 'हविर्भुज :'** = जो अग्निहोत्र आदि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुज' कहते हैं।

६ — **आज्यपा — 'आज्यं घृतम्, यद्वा 'अजं गतिक्षेपणयो :' धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानम् तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांस :' ते 'आज्यपा :'** = घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उसको 'आज्यप' कहते हैं।

७ — **सुकालिन :— 'ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभन : कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूप : सदैव कालो येषां' ते 'सुकालिन :'** = मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको सुकालिन्' कहते हैं।

८ — **यमराजा :— 'ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तार : सन्ति' ते 'यमराजा :'** = जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं।

९ — **पितृ-पितामह-प्रपितामहा :—(पितृ) 'ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषोगुणान् वासयन्त : तत्र वसन्तश्च, अनन्तधना : स्वान् जनान् धारयन्त : पोषयन्तश्च, चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिण : स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितर : 'वसव :' विज्ञेया ईश्वरोऽपि'** = जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' अथवा 'वसु' है। (पितामह) **'ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्त : चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपयन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासा : ते 'रुद्रा :' स्वे पितामहाश्च ग्राह्या : तथा रुद्र ईश्वरोऽपि'** = जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। **(प्रपितामह) 'आदित्यवत् उत्तमगुण प्रकाशका: विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशत् वर्षेणब्रह्मचर्येण सर्व-विद्यासम्पन्ना : सूर्यवत् विद्याप्रकाशका : त आदित्या : स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्या : तथा आदित्यो विनाशीश्वरो वात्र गृह्यते'** = जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' अथवा 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

१० — **मातृ-पितामही-प्रपितामह्य :— पित्रादिसदृश्यो मात्रादय : सेव्या :** =

पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये। माता, दादी, परदादी आदि।

११ — **सगोत्रा :— 'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीया :'** = जो समीपवर्ती ज्ञाति के पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं।

१२ — **आचार्यादिसम्बन्धिन :— 'ये गुर्वादिसम्बन्धा: सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीया :'** = जो पूर्णविद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए''। (द. ल. ग्रं. २४५-२५५)

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करना ही पितृयज्ञ है। मृतपितरों की कल्पना, भ्रान्ति एवं अज्ञानता है।

प्रजापति, प्रजा अर्थात् सन्तान के पालन में तत्पर माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों को ही कहते हैं। उन्हें 'पितर' भी कहा जाता है। इसमें ब्राह्मणों और निरुक्त के प्रमाण हैं — ''**प्रजा अपत्यनाम**'' निघ. २।२ ।। **प्रजापति : पाता वा पालयिता वा**'' निरु. १०।४१ ।। ''**पितर : प्रजापति :**'' गो. उ. ६।१५ ।। ''**पुरुष : प्रजापति :**'' शत. ६।२।१।२३ ।। प्रजाओं को उत्पन्न करके उनका पालन करने के कारण पुरुष प्रजापति होता है। पितर अर्थात् माता-पिता आदि प्रजापति होते हैं। सन्तानों का पालन करने वाले माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत और उनके आचरणानुरूप होने से ३।३० में वर्णित इस प्रकार के विवाह का नाम 'प्राजापत्य विवाह' है।

(घ) असुर कौन ?

'न सुरा-असुरा :' अर्थात् जो देवताओं के समान नहीं हैं। जो देवताओं के समान नि :स्वार्थ, निर्वैर, परहित, परोपकार, त्याग, तप, सहिष्णुता आदि भावनाओं वाले नहीं हैं। जो अपने देह और प्राणों के ही पोषण में, अपने ही स्वार्थ, सुख-सुविधा, धन और हितसाधनमें तत्पर रहते हैं; उसकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंच माया-जाल आदि रचते हैं, ऐसे व्यक्ति 'असुर' कहलाते हैं। इनमें निरुक्त और ब्राह्मणों के प्रमाण उल्लेखनीय हैं — ''**असुरता : स्थानेष्वस्ता, स्थानेभ्य इति वा, असुरिति प्राणानामास्त : शरीरे भवति, तेन तद्वन्त :।**'' निरु. ३।७।। ''**(असुरा :) स्वेष्वेवास्येषु जुहवतश्चेरु :**'' शत. ११।१।८।१ ।। **मायात्येसुरा : (उपासते)**'' शत. १०।५।२।१० ।। **असु क्षेपणे (अदादि) धातु से 'असेरुरन्'** (उणादि १।४२) से 'उरन्' प्रत्यय से 'असुर' शब्द बना। 'असुर से 'सम्बन्ध रखने वाला' अर्थ में अण्' प्रत्यय लगकर 'आसुर' बनता है। इस प्रकार दूसरे की भावनाओं की उपेक्षा करके धन और स्वार्थ-साधन में तत्पर व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित, सम्मत अथवा उनके आचरणानुरूप होने से ३।३१ में उस विवाह का नाम 'आसुर विवाह' है।

(ङ.) गन्धर्व कौन ?

गन्धर्व की व्युत्पत्ति है ''**गाम् = वाचम् धरतीति गन्धर्व :**'' अर्थात् गाने की उत्तम वाणी को धारण करने वाला। संगीत अर्थात् गाने, बजाने, नाचने की कला में प्रवीण लोगों को, जो विलासी, आमोद-प्रमोद में व्यस्त, श्रृंगारप्रिय और कामुकप्रवृत्ति-प्रधान हैं, 'गन्धर्व' कहते हैं। ब्राह्मणों के निम्न प्रमाणों में इस पर प्रकाश डाला गया है — ''**रूपमिति गन्धर्वा : (उपासते)** शत. १०।५।२।२०।। ''**योषित् कामा वै गन्धर्वाः**'' शत. ३।२।४।३ ।। ''**स्त्रीकामा वै गन्धर्वा :**'' ऐत. १।२७७ ।। कौ. १२।३ ।। **गन्धो मे, मोदो मे प्रमोदो मे। सन्मे युष्मासु**

(गन्धर्वेषु) जै. उ. ३।२५।४ ।। ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरणानुरूप होने से ३।३२ में वर्णित उस विवाह का नाम 'गान्धर्व विवाह' है ।

(च) राक्षस कौन ?

रक्ष-पालने धातु से **'सर्वधातुभ्योऽसुन्'** (उणादि ४।१८९) सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और 'इदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय के योग से राक्षस शब्द सिद्ध होता है । निरुक्त ४।१८ में राक्षस की निरुक्ति देते हुए कहा है —''**रक्ष : रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा ।**'' अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुंचाते और जो रात्रि में लूट-पाट, चोरी-व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों में सक्रिय हो जाते हैं, वे राक्षस हैं । इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करने वाले, दूसरों को सताने और पीड़ित करने वाले, अत्याचारी, अन्यायी, बलात्कारी स्वभावी और मांस-मदिराभोजी तमोगुणी [१२।४४] व्यक्ति 'राक्षस' कहलाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप, उनसे अनुमोदित या सम्मत होने से ३।३३ में विहित उस विवाह का नाम 'राक्षस विवाह' है ।

(छ) पिशाच कौन ?

पिश्-अवयवे (तुदादि) धातु से 'क' प्रत्यय होने से 'पिशम्' पद बना । 'पिश्' उपपद से आङ्-पूर्वक 'चमु-अदने' धातु से 'ड :' प्रत्ययपूर्वक 'पैशाच' शब्द बनता है । अथवा 'पिशित्' पूर्वपद से 'अश्' धातु से अण्, 'इत्' का लोप, शकार को चकार होकर पैशाच बनता है । **'ये पिशितम् = अवयवीभूतं, पेशितं वा मांसं रुधिरादिकम् आचमन्ति भक्षयन्ति ते 'पैशाचा :'**। प्राणियों का कच्चा मांस, रक्त तक खाने वाले, हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, मलिन संस्कारों वाले, अत्यन्त तमोगुणी [१२।४४], अत्यन्त निम्न और घृणित स्वभाव के व्यक्ति 'पिशाच' कहलाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप या उनसे अनुमोदित, सम्मत होने से ३।३४ में वर्णित उस विवाह का नाम 'पिशाच विवाह' है ।

(ज) दस्यु कौन ?

वेदों में और प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग आता है । यहां मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है । वेदों में मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं —'आर्य' = श्रेष्ठ और 'दस्यु' = अश्रेष्ठ । मनु ने यहां बताया है कि आर्यों के चार वर्णों से बाह्य अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों में अदीक्षित [१०।५७],धर्म का पालन न करके अधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से अवशिष्ट सभी लोग दस्यु हैं । दस्यु शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति भी इनके इसी आचरण पर प्रकाश डालते हैं — 'दसु-उपक्षये' धातु से **'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्'** (उणादि ३।२०) से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है । निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति है —''**दस्यु दस्यते : क्षयार्थात् . . . , उपदासयति कर्माणि**'' = दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है या शुभकर्मों में बाधा डालता है । मनु का श्लोक निम्न है —

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहि : ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाच : सर्वे ते दस्यव : स्मृता : ।।(१०।४५ ।।)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु + उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहि :) श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें अदीक्षित (या जातय :) जो जातियां हैं (म्लेच्छवाच : च आर्यवाच :) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या आर्यभाषाएं (ते सर्वे) वे सब

(दस्यव : स्मृता :) 'दस्यु' कहलाती हैं।

(क) आर्य और अनार्य —

चारों वर्णों में किसी एक वर्ण में दीक्षित, श्रेष्ठ संस्कारों, स्वभाव एवं आचरण वाला व्यक्ति आर्य कहलाता है। इसके विपरीत अनार्य होता है। मनु ने निम्न श्लोक में अनार्य के लक्षण दिखाये हैं —

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत्॥ १०।५७॥

(वर्ण-अपेतम्) वर्णों की दीक्षा से रहित अथवा वर्णों से बहिष्कृत (आर्यरूपम् + इव + अनार्यम्) श्रेष्ठ रहन-सहन और स्वभाव का दिखावा करने वाले किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित अनार्य (कलुषयोनिजम्) [कलुषयोनौ = दुष्टयोनौ जायते इति कलुषयोनिजः, तम्] दुष्टसंस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारी या दुष्टप्रवृत्ति वाले (स्वैः कर्मभिः विभावयेत्) उसके अपने कर्मों से पहचान ले अर्थात् जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो और अश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह अनार्य है।

(१) मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी वर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल आचरण का पालन करने का कथन किया है। कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी धर्माचरण में रुचि नहीं बनती। वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को स्वीकार नहीं करते ['वर्णापेतम्'], उनमें स्वभावगत अश्रेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है और धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है। ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं। दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों = कलुषयोनिजों या दस्युओं में ये संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उनकी पहचान करा देते हैं। ४।४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है। वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं —

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥
... भवति प्रजा निन्दितैर्निन्दिता नृणाम् —॥"

(२) इस श्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक अर्थ करना मनुसम्मत नहीं है। यहां स्पष्टतः सभी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो आर्यरूप में अनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन्न होने से दुष्ट गुण-कर्म स्वभाव वाले होते हैं। चाहे वे किसी भी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे।

१४. मनु और वेद —

मनु ने वेदों को अपौरुषेय मानते हुए उनको अपनी स्मृति का और धर्म का मूलस्रोत माना है। उन्हें पढ़ने का मानवमात्र को अधिकार है और प्रत्येक स्थिति में वे पठनीय है (इस विषयक विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में 'वेद विरोध' शीर्षकान्तर्गत देखिए)।

चतुर्थ अध्याय

[मनुस्मृति में अध्यायविभाजन, प्रकरण एवं वर्णाश्रमधर्मवर्णन पद्धति]

१. मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन मौलिक नहीं —

मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक अर्थात् मनुकृत नहीं है अपितु परवर्तीकाल में किसी ने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुस्मृति परम्परा के ही किसी व्यक्ति ने सुविधा की दृष्टि से मनुस्मृति को अपने ढंग से व्यवस्थापित किया और उसमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किये। आजकल प्राप्त होने वाली सभी प्रतियां अध्यायों में विभक्त मिलती हैं। यह मनुस्मृति का वास्तविक रूप नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति का यह विभाजन भी काफी पहले हो चुका था। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ही मनुस्मृति की प्रति अध्याय रहित रूप अर्थात् मौलिक स्वरूप में नहीं मिलती। अध्याय-विभाजन करने वाले व्यक्ति से मनुस्मृति के अध्याय-विभाजन में दो स्थानों पर भूल हुई है। अध्याय-विभाजन पूर्णत: निर्भ्रान्त या उचित नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि आज तक किसी भी विद्वान् का ध्यान इस त्रुटि की ओर नहीं गया, वही गलत अध्याय-विभाजन प्रचलित रहता रहा है। इन त्रुटियों का विवेचन करने से पूर्व अध्याय-विभाजन की अमौलिकता पर चर्चा कर लेना उपयोगी होगा।

मनुस्मृति की रचना-शैली ही यह सिद्ध करती है कि उसमें अध्याय-विभाजन की गुंजाइश नहीं है। मनुस्मृति की प्रवचन-शैली है,और ये सभी प्रवचन श्रृंखला की कड़ियों के समान जुड़े हुए हैं। मूलत: इस शैली में न तो अध्याय-विभाजन हो सकता है और न उसकी आवश्यकता सिद्ध होती है। अध्याय विभाजन इसलिए भी नहीं हो पाता कि मनु जिस किसी भी विषय या प्रसंग को प्रारम्भ करते हैं उसके प्रारंभ, अन्त अथवा दोनों स्थलों पर उस विषय का संकेत देते हैं। अधिकांश संकेत-स्थलों पर ऐसा है कि उसी श्लोक की एक पंक्ति में पूर्व विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी में ही अगले विषय के प्रारंभ होने का संकेत। कुछ स्थानों पर तो श्लोक के एक पाद में एक विषय के आरम्भ या समापन का संकेत है और शेष तीन पादों में दूसरे विषय के आरम्भ या समापन का संकेत, यथा —

(अ) तृतीय अध्याय का अन्तिम २८६वां श्लोक है —

> **एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्।**
> **द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ।। (३।२८६ ।।)**

अर्थ — यह पांच महायज्ञों का समस्त विधान आपको बताया, और अब द्विजातियों की मुख्य आजीविकाओं का विधान सुनिए।

यहां पहली पंक्ति में 'पञ्चयज्ञविधान' विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी ही पंक्ति में द्विजातियों की वृत्तियों के विषय को प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

(आ) इसी प्रकार निम्न श्लोक की प्रथम पंक्ति में राजधर्म विषय की समाप्ति का संकेत है और द्वितीय में वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों को प्रारम्भ करने का —

> **एषो ऽखिल: कर्मविधिरुक्तो राज्ञ: सनातन:।**
> **इमं कर्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्य-शूद्रयो: ।।(९।३२५ ।।**

अर्थ — यह राजा की सनातन और सम्पूर्ण कार्य करने की विधि कही । अब वैश्यों और शूद्रों की विधि को आगे वर्णित रूप में जानें ।

(इ) निम्न श्लोक में पूर्व के तीन पादों में पूर्व कहे चतुर्विध कर्म के विषय की समाप्ति का संकेत और अन्तिम एक पाद में अगले विषय को प्रारम्भ करने का —

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ।।(६।९७।।)

अर्थ — यह चार प्रकार का आश्रम धर्म आप से कहा । इस धर्म के पालन करने से पुण्य तथा कर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है । अब इसके आगे राजाओं के कर्त्तव्य-कर्मों को सुनिए ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इस शैली में अध्याय-विभाजन अभीष्ट नहीं है,और जब पूर्वापर विषय साथ-साथ संकेत होता रहता है तो अध्यायानुसार बांटने की आवश्यकता भी नहीं रहती । नुस्मृति की रचना-शैली अखण्ड है । यदि हम अध्याय-विभाजन करते हैं तो या तो श्लोक को तोड़ना ड़ेगा या दूसरे विषय की संकेतिक पंक्ति पहले अध्याय में ही रखनी पड़ेगी जैसे कि प्रचलित स्करणों में रखी हुई है । एक विषय पूर्व विषय के साथ जो श्रृंखला की कड़ी के समान जुड़ा हुआ है ही यह सिद्ध करता है कि रचयिता को मूलतः अध्याय-विभाजन अभीष्ट नहीं था । अतः यह माना ाना चाहिये कि मनुस्मृति की आरंभिक प्रतियां उस अखण्ड शैली में ही रही होंगी । अध्याय-भाजन हो जाने पर वह परम्परा बंद हो गई और अध्यायों में विभाजित रूप चल पड़ा ।

अध्यायों का विभाजन सुविधा के लिए किया गया और इसमें सुविधा है भी, अतः उसे हम भी रिवर्तित नहीं करना चाहते । किन्तु, उसमें प्रथम और नवम अध्याय के विभाजन में त्रुटि हुई है और अष्टम अध्याय के विभाजन में भ्रान्ति, इनका निवारण करना आवश्यक है । नवम अध्याय में भी कुछ परिवर्तन किया गया है ।

(क) प्रथम और द्वितीय अध्यायों के विभाजन में परिवर्तन —

अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने मुख्य विषयों के अनुसार अध्यायों का विभाजन किया प्रतीत होता है । प्रत्येक अध्याय में एक-दो मुख्य विषय हैं, जैसे प्रथम अध्याय में — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति, द्वितीय अध्याय में — संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय में — विवाह एवं पञ्चयज्ञविधान, आदि । किन्तु प्रथम अध्याय का विभाजन गलत हुआ है, वह द्वितीय अध्याय के पच्चीसवें श्लोक के पश्चात् होना चाहिये । यतोहि —

(अ) मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के मुख्य दो विषय हैं — सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति । दोनों की पारस्परिक सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक ही मानकर वर्णित किया है । १ । २ में महर्षियों ने मनु से वर्ण एवं आश्रमों के धर्मों का कथन करने की प्रार्थना की थी । धर्मों का कथन करने से पूर्व धर्म-सम्बन्धी अन्य आवश्यक जानकारी का भी भूमिका के रूप में कथन करना आवश्यक था । १ । ४-५ से मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति का विषय प्रारम्भ किया और फिर १ । १०८ से तथा २ । १ धर्म का प्रसंग प्रारंभ किया । यह क्रम इसलिए अपनाया क्योंकि धर्मोत्पत्ति जगदाश्रित है । इस दृष्टि से मनु ने पहले सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन किया । २ । २५ में यह संयुक्त विषय समाप्त होता है । वहां मनु स्वयं संकेत देते हैं —

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ।।

अर्थ — यह धर्म जानने के समस्त कारणों को संक्षेप में वर्णन कर दिया और इस जगत् की उत्पत्ति का भी वर्णन किया। अब वर्णों के धर्मों को सुनिए।

जब मनु ने इस विषय का समापन एक साथ किया है तो स्पष्ट है कि इस विषय को खण्डित करना गलत है। इस विषय की समाप्ति के बाद ही प्रथम अध्याय की समाप्ति होनी चाहिए। वर्तमान संस्करणों में १।११९ वें श्लोक पर ही अध्याय समाप्त करना उक्त संकेतक श्लोक के विरुद्ध है।

(आ) परम्परागत अध्याय-विभाजन में एक और त्रुटि यह है कि इसमें धर्म के प्रसंग को भी भंग कर रखा है। १।८७-९१ श्लोकों में वर्णों के कर्मविभाजन के साथ ही सृष्ट्युत्पत्ति का प्रसंग पूर्ण हो जाता है और फिर १।१०८-११० श्लोकों में धर्म की चर्चा भूमिका के रूप में की गई है, फिर २।१ में '**यो धर्मस्तं निबोधत**' कहकर धर्मोत्पत्ति का प्रसंग प्रारम्भ किया गया है। अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने धर्म की भूमिका के १।१०८-११० श्लोकों को तो प्रथम अध्याय में रख दिया और धर्मोत्पत्ति विषय द्वितीय अध्याय में आ गया। इस प्रकार प्रसंग भी भंग हो गया या विभाजित हो गया।

(इ) धर्म का विषय द्वितीय अध्याय में परिगणित होने से मुख्यविषयों के अनुसार अध्याय-विभाजन का वैज्ञानिक आधार भी नहीं बनता। इस प्रकार द्वितीय अध्याय में खण्डित विषय धर्मोत्पत्ति, संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम, ये कई विषय हो जाते हैं।

इन त्रुटियों को देखते हुए प्रथम अध्याय का विभाजन २।२५ के पश्चात् ही होना चाहिए।इससे प्रथम अध्याय का एक मुख्य और पूर्ण विषय होगा — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति; तथा द्वितीय अध्याय का विषय रहेगा — संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम। इस प्रकार करने से धर्म का प्रसंग तथा मुख्य विषय खण्डित नहीं होंगे और मनुस्मृति की संकेत शैली के अनुरूप अध्याय का विभाजन होगा।

• इसीलिए हमने मनुसम्मत विधि के अनुसार २।२५ वें के पश्चात् ही प्रथम अध्याय का विभाजन किया है। इन २५ श्लोकों को प्रथम अध्याय में ही परिगणित कर लिया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के श्लोक बढ़कर १४४ हो गये हैं और द्वितीय अध्याय से २५ घट गये हैं। इस संस्करण में श्लोकों की संख्या इसी ढंग से दी गई है।

(ख) अष्टम अध्याय के विभाजन में भ्रान्ति —

अष्टम अध्याय के विभाजन में जो त्रुटियां एवं भ्रान्तियां हुई हैं, वे ये हैं —

(अ) अष्टम अध्याय का विषय है — राजधर्म के अन्तर्गत 'अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकद्दमों) का निर्णय'। ८।४-७ श्लोकों में इनको एक-एक करके गिनाया भी है। ८।१-३ श्लोकों में इस विषय को प्रारम्भ करने का संकेत है और ९।२५० में इस विषय को संकेतपूर्वक समाप्त किया है —

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः॥

अर्थ — यह परस्पर विवाद करने वालों के १८ प्रकार के मुकद्दमों के निर्णय का विस्तृत वर्णन किया गया।

लेकिन अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने अष्टम अध्याय को विभाजित करते समय इस एक विषय को खण्डित कर दिया है। अठारह व्यवहारों में से पन्द्रह व्यवहार (स्त्री-संग्रहण तक) तो आठवें अध्याय

में चले गये । इस प्रकार इन अध्यायों का विभाजन मनु की विषय-संकेत-शैली के विरुद्ध है ।

(आ) अध्याय-विभाजन करने वाले अथवा किसी परवर्ती व्यक्ति को, ८ । ४१९ पर अध्याय-विभाजन करते समय यह भ्रान्ति हो गई है कि यहाँ व्यवहार-निर्णय का विषय समाप्त हो गया है । और उसने देखा कि यहां विषय-समाप्ति-सूचक कोई श्लोक भी नहीं है,इसलिए उसने अपनी ओर से यह श्लोक रचकर मिला दिया —

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।। (८ । ४२० ।।)

अर्थ — इस प्रकार राजा इन पूर्वोक्त समस्त विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है ।

प्रक्षेपक को यहां भ्रान्ति हुई है, यहां व्यवहार समाप्त नहीं हुए हैं,अपितु अभी तीन व्यवहार नवम अध्याय में शेष हैं । जब वे पूर्ण हो गये,तब मनु ने अपना समाप्ति-सूचक श्लोक भी दिया है, जिसे ऊपर उद्घृत किया जा चुका है । यह श्लोक मनु की शैली के अनुसार भी उपयुक्त सिद्ध नहीं होता । सभी संस्करणों में इसी प्रकार विषय-समाप्ति की जा रही है । आश्चर्य है कि इस भ्रान्ति की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है ।

इस भ्रान्ति की पुष्टि एक और भ्रान्ति से भी होती है ।

(इ) वह है विषय-सूची बनाने वाले की । विषय-सूची चाहे अध्यायविभाजनकर्त्ता ने बनायी है अथवा किसी अन्य परवर्ती ने, उसे मुख्य और गौण विषयों का सम्यक् ज्ञान नहीं था । 'व्यवहार-निर्णय' राजधर्म के अन्तर्गत एक मुख्य और विस्तृत विषय है, फिर उसके अठारह गौण विषय हैं । किन्तु विषयसूची के श्लोकों को देखकर लगता है कि विषयसूची के निर्माता को 'व्यवहार-निर्णय' एक भिन्न विषय लगा है, जो आठवें में पूर्ण हुआ मान लिया और नवम अध्याय में शेष तीन व्यवहारों को स्वतन्त्र विषय मानकर पृथक्-पृथक् विषय के रूप में वर्णित कर दिया —

राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ।।(१ । ११४ ।।)
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ।।(११५ ।।)

अर्थ — (आठवें अध्याय में) साक्षियों के प्रश्नों का विधान, (नवम अध्याय में) पति-पत्नी के धर्म, विभागधर्म, जुए सम्बधी, और कण्टकभूत दोषों के दूरीकरण सम्बन्धी बातों का वर्णन है । (सातवें अध्याय में) राजा के सब धर्म तथा (८ वें अध्याय में) सब कार्यों (मुकद्दमों) का निर्णय कहा है ।

'साक्षिप्रश्नविधान' 'स्त्रीपुरुषधर्म' 'विभागधर्म' और 'द्यूत' विषय व्यवहार-निर्णय के अन्तर्गत ही आने वाले विषय हैं, पृथक् नहीं । शायद बीच में खण्डित हो जाने के कारण यह भ्रान्ति हुई है । वस्तुत : ७, ८ और नवम अध्यायों में राजधर्म ही वर्णित हैं, और ये ७ । १ से प्रारम्भ होकर ९ । ३२५ में समाप्त हैं । उसके पश्चात् वैश्य और शूद्र के कुछ कर्मों का वर्णन है ।

(ग) नवम अध्याय के विभाजन पर विचार —

वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृतियों में नवम अध्याय में ३३६ श्लोक उपलब्ध होते हैं । सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय के ७०४ श्लोक तक राजनीति का विषय है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मनुस्मृति का अध्याय-विभाजन भी प्रकरणानुसार हुआ है, किन्तु कुछ अध्यायों के विभाजन

में विभाजनकर्त्ता द्वारा भूलें हुई हैं । प्रकरण को समझे बिना अध्याय-विभाजन कर दिया है । इसी प्रकार इस अध्याय में भी भूल हुई है । विषय के साथ ९ । ३२६ से ९ । ३३६ श्लोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, जोड़ दिये हैं । इनके साथ ही चातुर्वर्ण्यधर्म [२ १४४ (२ । २५) से ९ । ३३६ तक] समाप्त हो जाते हैं और फिर दशम अध्याय में चातुर्वर्ण्यधर्म का उपसंहार है । क्योंकि वैश्य-शूद्र-धर्मवर्णन के ग्यारह श्लोकों के प्रकरण का कोई एक अध्याय उपयुक्त नहीं जंचता, अत : हमने इन श्लोकों को दशम अध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है । ९ । ३२५ श्लोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक अध्याय को समाप्त कर दिया है ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इसके अध्यायों का विभाजन नये सिरे से किया जाये अथवा प्रक्षिप्त श्लोकों के संशोधन के साथ इसे प्रचलित रूप में स्वीकार कर लिया जाये ? इस के उत्तर में यही विचार किया गया है कि प्रधानत : प्रचलित को ही रखलिया जाये । क्योंकि, इसके परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा और आठवाँ अध्याय अत्यन्त विस्तृत हो जायेगा, उसमें लगभग सात-सौ श्लोक हो जायेंगे जबकि नवम में १०-११ ही रह जायेंगे । अत : इन भ्रान्तियों की ओर ध्यान दिलाकर इस विभाजन को यथावत् रख लिया गया है । सही बात तो यह है कि मनुस्मृति की शैली के अनुसार अथवा विषयों के अनुसार संतुलित अध्यायों में विभाजन नहीं हो सकता क्योंकि विषयानुसार अध्याय बांटने में किसी अध्याय में तो ६०० –७०० श्लोक होंगे और किसी में ५० –६०, और अध्यायों की संख्या भी बढ़ जायगी । इसलिए प्रथम और नवम अध्याय को छोड़कर शेष प्रचलित विभाजन को ही स्वीकार कर लिया, जिससे प्रचलित संस्करणों से बहुत अधिक अन्तर न पड़े और श्लोकों को मिलाने में असुविधा का सामना न करना पड़े । यतोहि, वर्तमान में सभी ग्रन्थ और उद्धरण प्रचलित संस्करणों की संख्या के अनुसार ही हैं ।

२. मनुस्मृति के प्रकरण और उनकी सीमा का निर्धारण —

मनुस्मृति को उसकी संकेत-शैली के अनुसार कुछ मुख्य विषयों में अवश्य बांटा जा सकता है । यद्यपि इस प्रकार करने से भी संकेतक श्लोक मुख्यविषय के अनुसार विभाजित होंगे, लेकिन उससे विषय या प्रसंग का ज्ञान होता जायेगा । वैसे छोटे-छोटे प्रसंग भी मनुस्मृति में अनेक हैं, उनकी गणना की जाये तो पूरी विषयसूची तैयार हो जायेगी, इसलिए यहां उनका उल्लेख करना विस्तारभय से संभव नहीं है । मुख्य या स्वतन्त्र विषयों का विभाजन निम्न प्रकार किया जा सकता है —

मुख्यविषय का नामकरण	श्लोक सीमा
१. भूमिका	१ । १ से १ । ४ तक
२. सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति	१ ।५ से २ । २५ तक (इस प्रकाशन में १ । ५ से १४४ तक)
३. संस्कार	२ । २६ से २ । ६८ तक (इसमें २ । १ से २ । ४२)
४. ब्रह्मचर्याश्रम	२ । ६९ से २ । २४९ तक (इसमें २ । ४५ से २ । २२४ तक)
५. गृहस्थान्तर्गत विवाह	३ । १ से ३ । ६६ तक
६. गृहस्थान्तर्गत पञ्चयज्ञविधान	३ । ६७ से ३ । २८६ तक
७. गृहस्थान्तर्गत वृत्तियां	४ । १ से ४ । १३ तक

८.	गृहस्थान्तर्गत स्नातकों के व्रत	४ । १४ से ४ । २६० तक
९.	गृहस्थान्तर्गत भक्ष्याभक्ष्य	५ । १ से ५ । ५६ तक
१०.	गृहस्थान्तर्गत शुद्धिविषय	५ । ५७ से ५ । १४६ तक
११.	गृहस्थान्तर्गत स्त्रीधर्म	५ । १४७ से ५ । १६९ तक
१२.	वानप्रस्थाश्रम	६ । १ से ६ । ३२ तक
१३.	संन्यासाश्रम	६ । ३३ से ६ । ९७ तक
१४.	राजधर्मान्तर्गत राजा की सिद्धि और कर्त्तव्य	७ । १ से ७ । २२६ तक
१५.	राजधर्मान्तर्गत १८ प्रकार के व्यवहारों=मुकद्दमों का निर्णय	८ । १-३ से ९ । २५० तक
१६.	राजधर्मान्तर्गत लोककण्टकों का निवारण	९ । २५१-२५२ से ९ । ३२५ तक
१७.	वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्य	९ । ३२६ से ९३६ तक
१८.	वर्णों के आपद्धर्म	१० । १ से १० । १३१ तक
१९.	प्रायश्चित्त-विधान	११ । ४४ से ११ । २६५ तक
२०.	कर्मफलविधान	१२ । १ से १२ । ८२ तक
२१.	कर्मफलविधानान्तर्गत निःश्रेयस्कर कर्मों का वर्णन	१२ । ८३ से १२ । ११६ तक

हमने प्रचलित अध्यायों के विभाजन को रखते हुए इन मुख्य विषयों के शीर्षक तथा विषय की अवधि भी साथ-साथ दिखा दी है । इसके अतिरिक्त मनु के संकेतानुसार अवान्तर विषयों के भी शीर्षक दे दिये हैं । इससे विषय या प्रसंग के परिज्ञान में सरलता होगी ।

३. मनुस्मृति में वर्णों और आश्रम धर्मों के वर्णन की पद्धति —

मनुस्मृति में वर्णों और आश्रमों के धर्मों का छठे अध्याय की समाप्ति तक साथ-साथ वर्णन चलता है। विषयसंकेतक श्लोक के '**वर्णधर्मान्निबोधत** [१ । १४४ (२ । २५)] और उपसंहारात्मक "**एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः**" [६ । ९७] पदों को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रश्न वर्णों और आश्रमों [१ । २] दोनों का किया था,फिर विषय-संकेतक श्लोकों में केवल वर्णधर्म की ही बात क्यों कही ? इसका समाधान मनु-शैली और अन्य श्लोकों से हो जाता है । उसे इस प्रकार समझना चाहिए —

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें आश्रमों के धर्म वर्णों के साथ-साथ चलते हैं । वर्णों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही आकर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के धर्मों के साथ-साथ ही समाप्त हो जाते हैं । और छठे अध्याय में आश्रमधर्मों की पूर्णता के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ण के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य भी पूर्ण हो जाते हैं । छठे अध्याय तक के चारों आश्रमों के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य सभी द्विजों के लिए एक सदृश पालनीय हैं । जो विधान इन अध्यायों में कहे हैं, ब्राह्मण के वही धर्म-कर्म हैं [१ । ८८] ।

उसके पश्चात् शेष वर्णों के व्याजहारिक कर्त्तव्यों का कथन —'क्षत्रियों' के लिए सप्तम, अष्टम अध्याय और नवम के ३२५ वें श्लोक तक पूर्ण होता है । वैश्यों का ९ । ३२६ से ३३३ [इ

संस्करण में १० । १ से १० । ८ तक] तथा शूद्र के कर्त्तव्यों का कथन ९ । ३३४-३३५ [इस संस्करण में १० । ९-१० तक] पूर्ण हो जाता है ।

(२) इस मध्य द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पञ्चम अध्यायों में गृहस्थाश्रम, षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का वर्णन है । आश्रमधर्मों को वर्णधर्मविषय के अन्तर्गत मानकर उन-उन विषयों के प्रसंग संकेतक श्लोकों तथा उपसंहारात्मक श्लोकों से उसका कथन भी किया है [२ । ४३ (२ । ६८), २ । २२४ (२ । २४९), ३ । २, ६७, २८६, ४ । १, २५९, ५ । १६९, ६ ।१ ३३, ८७-९०] आदि ।

(३) इसी प्रकार इन अध्यायों में 'द्विज,' 'विप्र,' 'ब्राह्मण' शब्दों का स्थान-स्थान पर पर्यायवाचीरूप में प्रयोग है ।

(४) मनु ने संभवत: इसी शैली के अनुरूप १ । २ और १ । १३७ [२ । १८] में आश्रम के लिए पर्यायवाची रूप में 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों का प्रयोग किया है, इसका अर्थ बनता है — '**वर्णानाम् अन्तरे प्रभव :=उत्पत्ति :-स्थिति : येषां ते अन्तरप्रभवा : = आश्रमा :** ।' इसी शैली के अनुरूप आश्रमों का वर्णधर्मों के अन्तर्गत ही कथन है । यही मनु की शैली है ।

पंचम अध्याय

[महर्षि दयानन्द और मनुस्मृति तथा उनके द्वारा प्रक्षेपनिर्देशन]

१. महर्षि दयानन्द द्वारा मनुस्मृति का गौरव बढ़ाना —

यद्यपि मनुस्मृति को अपने रचना-काल से ही सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है ; किन्तु आधुनिक काल में मनुस्मृति की न तो पूर्वसदृश प्रतिष्ठा ही रह गयी है और न पूर्ववत् अकाट्य प्रामाणिकता । प्रक्षेपों से विकृत और गदली हो जाने के कारण मनुस्मृति का गौरव विनष्ट हो रहा था । महर्षि-दयानन्द ने उस गौरव की रक्षा की और उसे बढ़ाया । सर्वप्रथम, मनुस्मृति के प्रक्षेपों से विकृत स्वरूप की ओर संकेत करके लोगों का यह दृष्टिकोण बदला कि 'उपलब्ध गदला रूप मनुस्मृति का वास्तविक रूप है' और यह भी बताया कि इसमें अनेक प्रक्षेप हुए हैं ; प्रक्षेपों से रहित मनुस्मृति ही मान्य और अनुकरणीय है । फिर उसे आर्ष और प्रामाणिक घोषित किया तथा उसकी वेदानुकूलता की पुष्टि की । काशी-शास्त्रार्थ में महर्षि-दयानन्द ने कहा था —

''मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति, तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति ।''

अर्थात् — मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं, इससे इनका भी प्रमाण है । क्योंकि जो-जो वेदविरुद्ध और वेदों से असिद्ध हैं, उनका प्रमाण नहीं होता ।

(द. शा. सं. पृ. २१)

महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के ५१४ श्लोकों या श्लोक-खण्डों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । एवं बहुत सारे श्लोकों के भावों को ग्रहण किया है । इससे ही यह सिद्ध होता है कि महर्षि-दयानन्द की मनुस्मृति के प्रति गहरी निष्ठा थी और वे उसे प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ मानते थे । इतने अधिक प्रमाण उद्धृत करके उन्होंने यह संकेत कर दिया कि धर्मप्रमाण में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसे छोड़ा नहीं जा सकता । महर्षि ने वेदों के बाद यदि किसी शास्त्र के सर्वाधिक प्रमाण दिए हैं, तो वह मनुस्मृति ही है । महर्षि ने अपनी समस्त वैदिक मान्यताओं की व्याख्या मनुस्मृति के श्लोकों से की है । मनुस्मृति के सम्बन्ध में जो मिथ्या भ्रान्तियाँ फैल चुकी थीं, महर्षि ने उन सबका उत्तर वेद के प्रमाणों से दिया और मनुस्मृति का परिमार्जित तथा उज्ज्वल स्वरूप हमारे समक्ष रखा । इस शास्त्र से महर्षि की तथा महर्षि से इस शास्त्र की प्रतिष्ठा चहुँ ओर फैल गई । असंख्य मत-मतान्तरों के प्रबल झंझावात के घोर अन्धकार तथा वेग के सामने अविचल तथा निर्भय रहने का महर्षि को जहां अदम्य साहस परमेश्वर की उपासना से, ज्ञान की ज्योति वेद-ज्ञान से, तथा तर्कशक्ति दर्शनों के गहन अध्ययन से मिली थी, वहां महर्षि के मनोबल को बढ़ाने वाला यह धर्मशास्त्र ही था । महर्षि जो वैदिक-वाङ्मय का मन्थन कर सके, तदर्थ कुशाग्रबुद्धि तथा तर्कणा शक्ति को देने वाला यही परमोपयोगी धर्मोपदेश था । अन्य मतों की धज्जियाँ उड़ाने तथा अन्धविश्वास का समूल उन्मूलन करने का धैर्य **'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः'** (मनु. १२ । १०६) इत्यादि मनु के सत्य-वचनों ही से प्राप्त हुआ था । महर्षि ने जो ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में 'वेदानुकूल को प्रामाणिक तथा वेद-प्रतिकूल को अप्रामाणिक' मानने की मान्यता प्रस्तुत की है, इसका भी मूलाधार मनुस्मृति ही है । महर्षि ने काशी शास्त्रार्थ में सत्य ही कहा था — ''जो-जो मनु ने कहा है, सो-सो औषधों का औषध है ।''

महर्षि-दयानन्द द्वारा अत्यधिक प्रमाणों को उद्धृत-गृहीत किये जाने पर, धर्म-निर्णय के सन्दर्भ में मनुस्मृति की चर्चा पुन : बढ़ी और सभी वर्गों के लोगों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार महर्षि-दयानन्द ने आधुनिक युग में मनुस्मृति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया है।

महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति की वैदिक मान्यताओं को ही नहीं स्वीकार किया, प्रत्युत मनु की वर्णन-शैली को भी उपादेय समझकर ग्रहण किया है। मनु की यह शैली है कि वे किसी भी विषय का वर्णन करने से पूर्व तथा अन्त में भी निर्देश अवश्य करते हैं। महर्षि ने भी सत्यार्थप्रकाशादि में इस शैली को अपनाकर आदि तथा अन्त में विषयों का निर्देश किया है। इसी प्रकार, जैसे मनु ने प्रथम ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि के धर्मों का वर्णन क्रमश : किया है, वैसे ही महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रथम ब्रह्मचर्यआश्रम के नियमों शिक्षणविधि तथा पठन-पाठन, गृहस्थ आदि का वर्णन किया है।

२. महर्षि के अर्थ एवं भावों का ग्रहण —

महर्षि ने वेदानुकूल मान्यताओं को परखा और उन्हें प्रस्तुत किया। उनकी पुष्टि के लिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्धृत किया है।अनेक श्लोकों के केवल भाव ग्रहण किये हैं। अपने ग्रन्थों में महर्षि ने मनुस्मृति के जिस-जिस श्लोक का भाष्य किया है, उस श्लोक पर महर्षि का भाष्य देदिया गया है, शेष श्लोकों पर मेरा भाष्य है। जहां महर्षि का भाव मिला वहां मैंने अपने भाष्य के नीचे उनका भाव भी दे दिया है, ताकि एक ऋषि की मान्यता को ऋषि के भाव से, अधिक गाम्भीर्य पूर्वक समझा जा सके। एक ऋषिकृत ग्रन्थ पर ऋषि का भाष्य हो जाने से 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है और उसका महत्त्व भी कई गुणा बढ़ जाता है।

महर्षि के श्लोकों के अर्थ में वैशिष्ट्य है, और गाम्भीर्य है। उन्होंने मनु की मूल भावना को समझा है। इस प्रसंग में एक प्रमाण देना पर्याप्त होगा। मनु का निम्न श्लोक जितना प्रसिद्ध है, उसका अर्थ उतना ही अव्यावहारिक रूप में प्रसिद्ध है --

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता : ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला : क्रिया : ।।

(३ । ५६)

यहां सभी टीकाकारों ने यह अर्थ किया है — 'जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता रमण करते हैं।' इस प्रकार अदृश्य देवताओं की कल्पना की गयी है। इस कल्पना से इसका अर्थ अविश्वसनीय, अव्यावहारिक, असंगत एवं हास्यास्पद बन गया। किन्तु महर्षि ने 'देवता :' का निरुक्त शास्त्र के आधार पर अर्थ ग्रहण करते हुए कहा है कि **'जिस घर में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, वहां देवता अर्थात् दिव्यगुण, दिव्य लाभ, दिव्यसन्तानें, दिव्यभोग आदि प्राप्त होते हैं।** यह प्रत्यक्ष देखा भी जाता है कि जिस घर में नारियाँ सत्कृत और प्रसन्न रहती हैं, उस घर का वातावरण अनेक सुखों से भरा-पूरा होता है। कितना व्यावहारिक और प्रासंगिक अर्थ है! (विस्तृत विवेचन भाष्य में यथास्थान देखिए)।

इस भाष्य में, श्लोकों पर महर्षि दयानन्द के ३४२ अर्थ उद्धृत किये हैं और ८० श्लोकों पर केवल भाव उद्धृत किया है। इस प्रकार ४२२ श्लोकों पर ऋषि के अर्थ और भाव हैं। महर्षि के जो अर्थ या भाव अक्षरश : उद्धृत किये हैं, उन पर उद्धरणचिह्न अंकित हैं। अर्थों में श्लोकों के मूल पद महर्षि के नहीं हैं, अपितु पदार्थ सुविधा और भाष्य की एकरूपता के लिए लेखक की ओर से संयुक्त किये

हैं। महर्षि के अर्थ या भाव में यदि कोई बृहत्कोष्ठक में शब्द है तो वह भी लेखक की ओर से ही रखा गया है, महर्षि का नहीं है।

महर्षि के अर्थों की अक्षुण्णता बनी रहे, इसका भी ध्यान रखा गया है। अपने ग्रन्थों में श्लोकों का अर्थ या भाव देते समय यदि महर्षि ने किसी पद को छोड़ा हुआ है, तो इस भाष्य में उस स्थान पर टिप्पणी के चिह्न देकर उनके अर्थ के ठीक बाद वह पद देकर मैंने उसका अर्थ कर दिया है। पाठक भाष्य पढ़ते समय उसे उस स्थान पर संयुक्त करके अर्थ को समझ लें।

३. सर्वप्रथम प्रक्षेप-निर्देशक —

यह श्रेय भी सर्वप्रथम महर्षि-दयानन्द को ही जाता है कि उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों में हुए प्रक्षेपों को पहचाना और उनका संकेत दिया। यों तो मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट आदि ने भी पाठभेद के रूप में प्राप्त श्लोकों को प्रक्षिप्तरूप में दर्शाया है, किन्तु निहित स्वार्थी प्रवृत्तियों से हुए प्रक्षेपों की ओर सबसे पहले महर्षि-दयानन्द ने ही ध्यान आकृष्ट किया और इस दृष्टि से कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक् उद्धृत भी किया तथा प्रक्षिप्त श्लोकों को निकालने की प्रेरणा भी दी। मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों के बारे में उन्होंने अपने उपदेशों व ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उल्लेख किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं —

(क) "अब मनु जी का धर्मशास्त्र कौन-सी स्थिति में है, इसका विचार करना चाहिए। जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वालों को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानवधर्मशास्त्र की अवस्था हुई है। उसमें बहुत-से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुत: भगवान मनु के नहीं हैं।"

(पू. प्र. पृ. ९१)

(ख) "एक दिन स्वामी जी यह उपदेश दे रहे थे कि वर्णभेद गुण पर निर्भर है, न कि जन्म पर; और अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के कुछ श्लोक पढ़ रहे थे. इस पर एक मनुष्य ने कहा कि मनुस्मृति में अन्य श्लोक इसके विरुद्ध भी हैं। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वे प्रक्षिप्त हैं।"

(द. जी. दे. पृ. ३५७)

कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों का स्वग्रन्थों में निर्देश —

(ग) सत्यार्थप्रकाश में निम्न श्लोकों की प्रक्षिप्त रूप में समीक्षा की है —

१. प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम् . . . . ।।(५ । २७ ।।)

अर्थ — यज्ञ में प्रोक्षण से शुद्ध किए मांस को खावे।।

२. न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।(५ । ५६ ।।)

(पृ. २८३, एकादश समु.)

अर्थ — मांस के खाने, शराब-पीने और शास्त्रविरुद्ध मैथुन (व्यभिचार) में कोई दोष नहीं है। ये सब प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। इनसे निवृत्त होना अत्यन्त लाभप्रद है।

३. पुराणानि खिलानि च ।। ३ । २३२ ।।(स. प्र. पृ. ३२६)

(घ) "ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया। . . . . जब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते हैं; तब उन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्तिपूजन आदि वेदविरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके। सर्वसाधारण, ब्राह्मणों से विमुख न हो जावें, इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गए —

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ।।(९ । ३१७ ।।)

अर्थ — ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो अथवा मूर्ख, बड़ा देवता है । जैसे अग्नि हवन के लिए हो अथवा न हो, फिर भी बड़ा देवता है ।

श्मशाने ष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ।।(९ । ३१८ ।।)

अर्थ —तेजस्वी अग्नि का तेज श्मशानों में भी नष्ट नहीं होता है और यज्ञों में हवि को प्राप्त करके तो वह अग्नि अधिक बढ़ जाता है ।

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख,वह साक्षात् देवता है । प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनाएं करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिए । यथा —

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणा : पूज्या : परमं दैवतं हि तत् ।।(९ । ३१९ ।।)

(पू. प्र. पृ. १३४)

अर्थ —इस प्रकार चाहे ब्राह्मण कैसे भी अनिष्ट कर्मों में रत रहें, फिर भी वे सब प्रकार से पूज्य हैं । क्योंकि वह बड़ा देवता है ।

(ङ·) ''मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक स्मृति ग्रन्थ (अपठनीय हैं)'' ।

(ऋ. भू. ग्रन्थप्रामाण्य.)

उपर्युक्त घोषणा, विद्वान्, आर्षभक्त तथा मत-मतान्तरों के जाल से विमुक्त, स्वार्थहीन, निष्पक्ष महर्षि-दयानन्द ही कर सके हैं, जिन्होंने वेद-ज्ञान के सूर्यसम प्रकाश में सत्यासत्य का निर्णय कर लिया था । और सत्यासत्य के निर्णय का माप -दण्ड भी हमारे लिए स्पष्ट किया । महर्षि दयानन्द ने प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि —

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य : ।।(न्यायदर्शन २ । ५७ ।।)

अर्थात —वह प्रमाण के योग्य नहीं होता, जिसमें मिथ्या बातों का वर्णन, परस्पर विरोधी तथा पुनरुक्त बातों का वर्णन हो ।

ये उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के बिगड़े हुए रूप को पहचाना था और उसके सुधार के लिए सर्वप्रथम प्रयास किये थे । इस प्रकार साहित्य के अन्दर होने वाले प्रक्षेपों का निर्देश देने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति महर्षि-दयानन्द थे । उनकी इस अभूतपूर्व महत्त्वपूर्ण देन के लिए साहित्य-क्षेत्र के सभी व्यक्तियों को कृतज्ञता अनुभव करनी चाहिए ।

४. महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत श्लोकों का प्रक्षेपान्तर्गमन —

महर्षि-दयानन्द द्वारा स्वग्रन्थों में की गई प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का यह प्रयास किया जा रहा है । यह कहना चाहिए कि महर्षि-दयानन्द के उद्देश्य की पूर्ति करना ही इस कार्य का लक्ष्य है । इससे पूर्व भी आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं, किन्तु उनमें कुछ सुनिश्चित आधार न अपनाने के कारण भ्रान्तियाँ एवं दोष रह गये हैं । कुछ एक ने तो महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत सम्पूर्ण प्रसंगों को ही प्रक्षिप्त घोषित कर दिया है । बिना किसी आधार के इस प्रकार करना दुस्साहस मात्र कहा जायेगा । कुछ विद्वानों ने

प्रक्षिप्त कोटि में आने वाले विभिन्न श्लोकों को भी मौलिक मानलिया है, जिन्हें हमने सप्रमाण प्रक्षिप्त सिद्ध किया है । हमने जो आधार अपनाये हैं, प्रसंगानुसार उनकी एक बार पुन : चर्चा कर देना उपयुक्त रहेगा । वे ये हैं —

१. **विषय-विरोध**
२. **प्रसंग-विरोध**
३. **अन्तर्विरोध**
४. **पुनरुक्तियाँ**
५. **शैली-विरोध**
६. **अवान्तर-विरोध**
७. **वेद-विरोध**

इस कार्य को करते हुए हमारे सामने भी एक विवशता उत्पन्न हो आई है । उसे स्पष्ट कर देना हम स्वयं आवश्यक समझते हैं । वह यह कि प्रक्षेपों को निकालने को लिए जो 'आधार' हमने निर्धारित किये हैं, उनमें महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत कुछ श्लोक भी आ गये हैं । महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत श्लोक कैसे प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं, अथवा उन्हें प्रक्षिप्त क्यों स्वीकार किया जा रहा है तथा उन्हें मान लेने पर क्या उलझन पैदा हो जायेगी, इन बातों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है —

१ — मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के इस उलझनपूर्ण और महाकठिन कार्य को पूर्ण करने के लिए हमने जो उपर्युक्त 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये हैं, वे विशुद्ध रूप से कृतित्व पर आधारित हैं, और वे सर्वमान्य हैं । इस अनुसन्धान कार्य को करते हुए किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहींअपनाया है । यह प्रयत्न किया गया कि कृति की शैली के अनुसार ही उसका वास्तविक रूप प्रकाश में आये और यह कार्य सभी वर्ग के व्यक्तियों में समानरूप से मान्य हो सके । यदि ऐसा नहीं हो पाया तो इस कार्य की न तो कोई विशेष उपयोगिता ही सिद्ध होगी और न ही यह न्यायोचित ही होगा । इसलिए पक्षपातरहित होकर हमें यह कार्य करना पड़ा । महर्षि दयानन्द ने भी पक्षपातरहित को ही धर्म माना है । हमने उनकी इस बात को मानते हुए पक्षपातरहितता दिखाई है । उपर्युक्त आधारों की सीमा में आने वाले महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत कुछ श्लोकों को हमने इस कारण प्रक्षिप्त कोटि में रखा है कि यदि कुछ श्लोकों को इन नियमों से मुक्त कर दिया जाये तो फिर ये 'आधार' ही व्यर्थ सिद्ध होगें और आधाररहित रूप में किया गया कार्य कभी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता ।

२ —महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत जितने श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं उनका मनुस्मृति की किसी मान्यता से विरोध नहीं है,अपितु वे प्रकरणविरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कोटि में आते हैं । इसे महर्षि की त्रुटि नहीं कहा जा सकता और न ही इस बात पर कोई आपत्ति की जा सकती है ; क्योंकि, एक तो महर्षि ने स्वतन्त्ररूप से मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने का कार्य नहीं किया और दूसरी बात यह है कि मनुस्मृति के उद्धरण लेते समय,प्रकरण.इस दृष्टि से उनके विचार का विषय नहीं रहा । महर्षि स्वयं मनुस्मृति में अनेक प्रक्षेपों का होना मानते हैं । इसी अध्याय में इस विषय में उनकी सम्मतियां उद्धृत की जा चुकी हैं । इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति केश्लोकों के साथ यह शैली अपनायी है कि —उद्धृत श्लोकों के साथ अध्याय और संख्या का उल्लेख नहीं किया । इस प्रकार हमारा यह कार्य उनके विरुद्ध नहीं जाता ।

३ — प्रक्षेपों के अन्तर्गत आने वाले महर्षि के कुछ श्लोक ऐसे हैं जो प्रसंग की दृष्टि से अपने पूर्व श्लोकों से सम्बद्ध हैं और वे पूर्व के आधारभूत श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, अत : उनके साथ सम्बद्ध

होने के कारण महर्षि द्वारा उद्धृत श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं ।

महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत जो श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं,वे श्लोक तथा उनके प्रक्षेपान्तर्गमन के कारण या आधार निम्न हैं —

१. **आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव: ।**
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण: स्मृत: ।।(१ ।१० ।।)

(उद्धृत —स. प्र. पृ. १९)

अर्थ —'अप्' तत्त्व का नाम नारा है, और अप् तत्त्व परमात्मा से उत्पन्न होते हैं । वे अप् तत्त्व परमात्मा के अयन = निवासस्थान हैं अर्थात् परमात्मा उनमें व्यापक है, अत : परमात्मा का नाम 'नारायण' है ।।

आधार —महर्षि द्वारा उद्धृत इस श्लोक का स्वतन्त्र रूप से किसी मान्यता से विरोध नहीं है, किन्तु जिस पूर्वापर प्रसंग से यह सम्बद्ध है,वह प्रसंग अनेक 'आधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है अत :, उससे जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है । वह प्रसंग निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है —(१) मनुस्मृति में जगत् की उत्पत्ति 'महत्' आदि तत्त्वों के द्वारा सूक्ष्म से स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम के क्रम से मानी है [१ । १४-२४] । ७-१३ श्लोकों के इस प्रसंग में अपने शरीर से प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से 'अप :' की सृष्टि, उनसे अण्डे का निर्माण [८-९], अण्डे से ब्रह्मा की उत्पत्ति [९, ११], फिर अण्डे के दो टुकड़े करके द्युलोक,भूमिलोक आदि का निर्माण [१२-१३] आदि जगदुत्पत्ति की प्रक्रिया उक्त मान्यता के विरुद्ध है । (२) ७ –१३ श्लोकों का यह प्रसंग प्रसंगविरुद्ध भी है, यतो हि १४-१८ श्लोकों में अभी सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति कही जा रही है । उनकी उत्पत्ति के पश्चात् ही स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति संभव है । किन्तु इस प्रसंग में सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति कहने से पूर्व ही स्थूलसृष्टि – समुद्र, द्युलोक, पृथिवीलोक [१३] और अण्डाकाररूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रदर्शित कर दी । यह क्रमविरुद्ध वर्णन इसे प्रसंगविरोधी प्रक्षेप सिद्ध करता है । (३) यह प्रसंग इस प्रकार भी प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होता है कि इस प्रसंग के १३ वें श्लोक की १४ वें से संगति नहीं जुड़ती । १३ वें में लोकों की रचना का वर्णन है,जबकि १४ से प्रकृति से 'महत्' आदि की उत्पत्ति का वर्णन प्रारम्भ किया है । १४ वें के भाषा-प्रयोग को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्लोक छठे से सम्बद्ध है । क्योंकि छठे श्लोक में जगदुत्पत्ति के रूप में ही परमात्मा की प्रकटता दिखलाते हुए 'तमोनुद :' 'महाभूतादि वृत्तौजा :' विशेषण पठित हैं । इससे यह संकेत मिलता है कि इसके बाद प्रकृति से 'महत्' 'पञ्चभूत' आदि महाभूतों की उत्पत्ति प्रदर्शित करना ही रचयिता को अभीष्ट है। अण्डे आदि की उत्पत्ति दर्शाना अभीष्ट नहीं है (जैसा कि ९ –१३ श्लोकों में वर्णित है), और वह उत्पत्ति १४ वें श्लोक से प्रदर्शित है, अत : छठे से १४वां श्लोक सम्बद्ध है । इस प्रकार बीच का यह ७ –१३ श्लोकों का प्रसंग प्रसंगविरोधी सिद्ध होता है ।

प्रकरण-विरोध — इस श्लोक का प्रकरणविरोध सिद्ध होता है, यतो हि इसमें 'नारायण' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी गई है । यहां पूर्वापर प्रसंग में 'नारायण' शब्द की कोई चर्चा नहीं है । यहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-तत्त्वों की उत्पत्ति का है।उसके बीच में किसी नाम की व्युत्पत्ति दर्शाना प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता । यदि यह कहा जाये कि ८ वें श्लोक में 'अप :' शब्द आया था उसके प्रसंग से नारायण शब्द की उत्पत्ति दर्शा दी, तो इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि मनु की इस प्रकार की शैली नहीं है । यदि ऐसी शैली होती तो वे श्लोक में पठित 'स्वयंभू :' 'भगवान्' आदि नामों और विशेषणों की व्युत्पत्ति भी दर्शाते ।

२. मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ।।(१ । ३५ ।।)

३. एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ।।(१ । ३६ ।।)

(उद्धृत —पूनाप्रवचन पृ. ९४)

अर्थ — मनु ने जिन दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया, उनके नाम इस प्रकार हैं —मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, वसिष्ठ, भृगु और नारद । (१ । ३५) ।। इन महर्षियों ने सात दूसरे बहुत तेजस्वी मनुओं को उत्पन्न किया और देव, देवसमूह तथा अपरिमित शक्तिसम्पन्न महर्षियों को उत्पन्न किया । (१ । ३६)

प्रकरण-विरोध — (१) सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन १४ —२२ श्लोकों में वर्णित हो चुका । उसके पश्चात् २५ —३० श्लोकों में उत्पन्न प्रजाओं के कर्मों की व्यवस्था का भी वर्णन किया जा चुका है । इससे यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग १४ —२२ श्लोकों में ही पूर्ण हो चुका । प्रसंग के पूर्ण होने के बाद पुनः भिन्न पद्धति से उसी सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसंग को प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है । ३२-४१ श्लोकों में पुनः सृष्टिरचना का वर्णन है, ये श्लोक भी उसके अन्तर्गत हैं और उन्हीं से सम्बद्ध हैं, अतः प्रक्षेपान्तर्गत कहे जायेंगे ।

ये श्लोक इस प्रकार भी प्रक्षेपान्तर्गत आते हैं कि ये ३३ —३४ श्लोकों से सम्बद्ध हैं । (१) ३३ —३४ श्लोकों में ब्रह्मा के आधे शरीर से पुरुष की उत्पत्ति, आधे से स्त्री की, और उसमें विराट् की उत्पत्ति, विराट् से मनु और मनु से अन्य मनुओं की उत्पत्ति प्रदर्शित है । ये श्लोक १ । १६, १९, २३, २६ —३१ के विरुद्ध हैं, इन श्लोकों में एक साथ अनेक प्राणियों की उत्पत्ति का होना प्रदर्शित है, ब्रह्मा के वंश से नहीं । (२) और फिर जब उक्त श्लोकों में सभी प्राणियों की उत्पत्ति दिखा ही दी है तो यहां फिर प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाना स्वतः प्रसंगविरुद्ध है । (३) ३२-४१ श्लोकों के इस प्रसंग में महर्षियों से चर-अचर, स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति कहना प्रकृतिविरुद्ध भी है । इस प्रकार इन श्लोकों का यह प्रसंग प्रक्षिप्त है और ये श्लोक पूर्वापर रूप से इस प्रसंग से सम्बद्ध हैं ये भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं ।

४. निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।।(२ । १६)

(सं. वि. पृ. २७)

महर्षि ने इस श्लोक की यह एक ही पंक्ति उद्धृत की है । अग्रिमपंक्ति में सिद्धान्त विरोध आने से उन्हें वह ग्राह्य नहीं थी । यहां महर्षि को केवल यह दिखलाना ही अभीष्ट है कि संस्कार,निषेक से अन्त्येष्टि पर्यन्त,सोलह होते हैं । मनुस्मृति में यह श्लोक पूर्वापर धर्ममूलवर्णन के प्रसंग के विरुद्ध है । यहां शास्त्राधिकार का प्रसंग नहीं है और न सोलह संस्कारों का । इसमें मनुस्मृति को 'शास्त्र' संज्ञा से अभिहित करना भी इसे शैली की दृष्टि से परवर्ती सिद्ध करता है (द्र. शैलीगत आधार मनु. का पुन. द्वितीय अध्याय में) ।

५. वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्यांश्रुतिरेषा सनातनी ।।(३ । २८४ ।।)

(उद्धृत —पञ्चमहायज्ञविधि)

अर्थ —वसुओं को पितर, रुद्रों को पितामह और आदित्यों को प्रपितामह कहते हैं । यह प्राचीनकाल से सुनते आए हैं ।

प्रकरण-विरुद्ध —(१) ११६—११८ श्लोकों में गृहस्थी के लिए अतिथि को खिलाकर खाने का विधान है,या फिर यज्ञशेष अन्न खाने का विधान है । २८५ वें श्लोक में 'यज्ञशेष' अन्न का लक्षण वर्णित है । यह कहना चाहिए कि ११६-११७ श्लोकों के ११८ और २८५ श्लोक अर्थवादरूप हैं, या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ११८ वें श्लोक की वाक्यपूर्ति २८५ वें में होती है । बीच के श्लोकों ने उस वाक्यक्रम को भंग कर दिया है, अत: ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं ।

(२) इस श्लोक में मनु से विरुद्ध कोई मान्यता नहीं है, किन्तु यह श्लोक जिस पूर्व वर्णन से प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध है,वह १२२ से २८३ श्लोकों का वर्णन मृतकश्राद्ध का विधायक है । यह प्रसंग अनेक 'आधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उस प्रकरण से जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है ।

६. **दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वज: ।**
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृप: ।।[४ । ८५ ।।]

(उद्धृत — सं. वि. १५१)

अर्थ —दस कसाइयों के समान एक तेली, दस तेलियों के समान एक कलार, दस कलारों के समान एक वेश्याजीवी और दस वेश्याजीवियों के समान एक राजा होता है ।

आधार — यह श्लोक प्रसंग की दृष्टि से ८४ वें श्लोक से सम्बद्ध है । ८४ वें श्लोक में यह अक्षत्रिय से उत्पन्न राजा, कसाई, तेली, कलार एवं भेष बदलाकर जीविका करने वाला, इनसे दान न लेने का विधान है । ८५ वें में उनकी तुलनात्मक शैली में निन्दा है । ८४ वें श्लोक में जन्मना वर्ण-व्यवस्था की मान्यता प्रदर्शित की है.जो मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था [१ । ८७—९१; २ । ६८ (४३), १२६ (१०२), १४६—१४८ (१२१—१२३); ४ । २४५] की मान्यता के विरुद्ध है । ८४ वां श्लोक इस आधार पर प्रक्षिप्त है । उसके साथ जुड़ा होने के कारण ८५ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त कहा जायेगा ।

७. **गुरो: प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।**
प्रेतहारै: समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ।।[५ । ६५ ।।]

(उद्धृत —स. प्र. ३० पत्रविज्ञा. १०१)

अर्थ — मृत गुरु के पितृमेध (अन्त्येष्टि) को करने वाला शिष्य मृतशरीर को उठाने वालों के साथ दश रात-दिन में शुद्ध होता है ।।

प्रकरणविरुद्ध —५ । ५७ वें श्लोक में मनु ने देहशुद्धि और द्रव्यों की शुद्धि के विषय को कहने का कथन किया है । भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का वर्णन १०५—१०७ श्लोकों में वर्णित है उसके बाद १०९ वें में शरीर-शुद्धि का उपाय विहित है । इस प्रकार प्रसंगक्रम की दृष्टि से ५७ के बाद उसकी भूमिकारूप १०५—१०७ श्लोक होने चाहियें । बीच के ५८ से १०४ श्लोकों ने उस क्रम को भंग करके सपिण्ड-असपिण्ड भेदों से मृतकशुद्धि तथा सूतकशुद्धि का वर्णन किया है । शुद्धिकारक पदार्थों के कथन से पूर्व ही शुद्धि के उपायों का वर्णन करना प्रसंगक्रम की दृष्टि से असंगत है, अत: बीच के ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इनके अन्तर्गत आने से यह श्लोक भी प्रक्षिप्त कहलायेगा ।

८. **उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।**
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ।।[८ । १२५ ।।]

(स. प्र. १८१ पृ. स उद्धृत)

अर्थ — मनु ने दण्ड के दस स्थान बताये हैं — जननेन्द्रिय, पेट, जीभ, दोनों हाथ, दोनों पैर, आँख, नाक, दोनों कान, धन और शरीर।

प्रकरणविरुद्ध —(१) यहां पूर्वापर प्रसंग ८। १२२ और १२६ —१३१ श्लोकों में अर्थदण्ड का चल रहा है। बीच में शरीरदण्डों का कथन करना पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध है। (२) १२४ वां श्लोक वर्णन-शैली के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। उसमें प्रयोग — "**दश स्थानानि दण्डस्य मनु : स्वायम्भुवोऽब्रवीत्**"। स्पष्ट है कि इस श्लोक का प्रवक्ता स्वयं मनु नहीं है, कोई अन्य व्यक्ति है। अत : इस आधार पर यह श्लोक भी प्रक्षिप्त है। १२५ वां श्लोक प्रसंग की दृष्टि से १२४ वें से सम्बद्ध है। उसका अर्थवाद है। अत : उसके प्रक्षिप्त होने पर १२५ वां स्वत : प्रक्षिप्त कहलायेगा।

९. **अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।**
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च॥(८। ४१९॥)

१०. **एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।**
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमांगतिम॥(८। ४२०॥)

(उद्धृत —स. प्र. पृ. १७५)

अर्थ — राजा प्रतिदिन राज-कार्यों, हाथी आदि सवारियों, आय-व्यय के लेखों, खानों और खजानों का निरीक्षण करे। (८। ४१९)

इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराता हुआ सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है। (८। ४२०)

प्रकरणविरुद्ध — ८। ३ श्लोक से अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकद्दमों) का वर्णन शुरू हुआ था, जो ९। २५० में समाप्त होता है। आठवें अध्याय के अन्त में केवल पन्द्रह व्यवहार ही समाप्त हो पाये हैं, और व्यवहारों के समाप्ति-सूचक ये श्लोक सभी व्यवहारों की समाप्ति का संकेत देकर उसका फलकथन कर रहें हैं। प्रसंग या विषय समाप्त होने से पूर्व ही उसकी समाप्ति का संकेत करना कभी मौलिक रूप से नहीं हो सकता, अत : ये प्रसंगविरुद्ध और अशुद्ध हैं। अठारह व्यवहारों का समाप्तिसूचक मौलिक श्लोक ९। २५० वां यथास्थान उपलब्ध है। ये अध्यायों की समाप्ति पर समाप्ति या उपसंहार-सूचक श्लोकों की एकरूपता बनाये रखने के लिए प्रक्षेप किये प्रतीत होते हैं। यहां विषय समाप्त न होने के कारण अध्यायकार को कोई समाप्तिसूचक श्लोक नहीं दिखाई पड़ा, अत : उसने स्वयं इस प्रकार का श्लोक रचकर मिला दिया।

इस प्रकार तटस्थ आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध हुए प्रकरणों के बीच में आने के कारण महर्षि के ये श्लोक मनुस्मृति के सन्दर्भ में प्रक्षिप्तकोटि में आ जाते हैं।

प्रकाशक : आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
४५५, खारी बावली, दिल्ली-११०००६

July : 2005
दयानन्दाब्द : १८०
विक्रमाब्द : कार्तिक २०६१
सृष्टि संवत १,९६,०८,५३,१०५

विक्रय केन्द्र : 1. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२-एफ, कमलानगर, दिल्ली-७
2. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
४५५, खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष : २३९५३११२, २३९५८३६०

मूल्य : (२५०.००) रुपये

॥ ओ३म् ॥